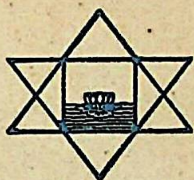
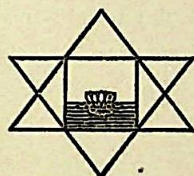


अवतार

श्रीअरविंद

୨୦ଟି

श्रीअरविंद



अवतार

अदिति कार्यालय
पांडिचेरी-२
१९६५

अदिति पुस्तक-माला — पुष्प ४ नवंबर १९६५

प्रथम संस्करण १९६५

अनुवादक—चन्द्रदीप। प्रकाशक—अदिति कार्यालय, पांडिचेरी-२।
मुद्रक—श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी-२।

Hindi — Avatar by Sri Aurobindo

Publisher — Aditi Karyalaya, Pondicherry-2.

Printer — Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry-2

हिन्दू-धर्म सदासे भगवान्‌के मानव-शरीरमें अवतरित होनेकी बातमें विश्वास करता आ रहा है। पर आज आधुनिक युगमें बौद्धिक विकास और वैज्ञानिक दृष्टिकोणका प्रचार हो जानेके कारण अन्य आध्यात्मिक विषयोंकी तरह 'अवतारवाद' के विषयमें भी लोगोंकी आस्था डांवाडोल हो गयी है और लोग किन्हीं दूसरे रूपोंमें इसकी व्याख्या करनेका भी प्रयास करते हैं। इस विषयपर श्रीअरविन्दने अपने 'गीताप्रबंध'में विशद् रूपसे प्रकाश डाला है और अवतारवादका जोरदार शब्दोंमें समर्थन और प्रतिपादन किया है। साथ ही अपने बहुतसे पत्रोंमें उन्होंने आधुनिक मनके संदेहों और आक्षेपोंका उत्तर देकर इस प्रश्नको और भी स्पष्ट किया है। इन्हीं दो स्रोतोंसे हमने इस पुस्तिकाका संकलन किया है जिसमें हमारे पाठकोंको इस विषयपर श्रीअरविन्दका मत स्पष्ट रूपमें मालूम हो जाय। अंतमें हमने थोड़ेसे श्रीमाताजीके वचनोंको भी दिया है जो इसी विषयसे संबंधित हैं। हमें पूरा विश्वास है कि श्रीमांके ये अनुभवजन्य वचन भी इस विषयपर हमारी आस्थाको अधिक बल देनेवाले सिद्ध होंगे।

—अनुवादक

एक दिन अवश्य आयेगा
प्रेम जब इस जगत्‌को भी मृत्युसे मुक्त कर देगा।

१५ अगस्त १९६५ —श्रीअरविन्द

*

भागवत प्रेमका भार वहन करनेकी सामर्थ्य पानेसे पहले मनुष्यको दिव्य (भगवत्स्वरूप) बन जाना होगा।

*

भागवत पुरुष होनेका अर्थ है स्वराट् और सम्राट् हो जाना, परंतु ऊपरी अर्थके अलावा किसी दूसरे अर्थमें।

*

अपने अंदर असीम एकत्वको संसिद्ध कर लेनेके पश्चात् विश्वके प्रति अपने-आपको अर्पण कर देना ही है आत्यंतिक स्वातंत्र्य और परम साम्राज्य।

*

जो निःशेष भावसे और समग्र रूपसे अपने-आपको भगवान्‌को दे डालते हैं, उन्हें भगवान् भी अपने-आपको दे डालते हैं। उन्हींके लिये है शांति, प्रकाश, शक्ति, सुख, स्वातंत्र्य, प्रसार, ज्ञानके शिखर और आनंदके सागर।

—श्रीअरविन्द

विषय-सूची

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

—गीता ४।६–९

यद्यपि मैं अजन्मा हूं, आत्मस्वरूपमें अव्यय (अविनश्वर) हूं, सभी भूतोंका ईश्वर (स्वामी) हूं, फिर भी अपनी निजी प्रकृतिपर अधिष्ठित होकर अपनी आत्म-मायाके द्वारा जन्म ग्रहण करता हूं।

जब-जब धर्ममें ग्लानि आ जाती है और अधर्मका उत्थान हो जाता है तब-तब मैं जन्म लेता हूं।

साधुओंकी रक्षा करने और पापियोंका विनाश करने और धर्म-की स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें जन्म लेता हूं।

इस तरह जो मनुष्य मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको तत्त्वतः (यथार्थ रहस्यके साथ) जानता है वह शरीर छोड़ देनेपर फिरसे जन्म नहीं लेता, वह मेरे पास आता है।

—गीता ४।६-९

अवतार

अवतारकी मान्यता

भारतवर्ष प्राचीन कालसे ही वड़े प्रवल रूपमें यह विश्वास करता आ रहा है कि भगवान् वास्तवमें अवतार लिया करते हैं, अरूपसे रूपमें अवतरित हुआ करते हैं; मनुष्य-रूपमें मनुष्यजातिके बीच प्रकट हुआ करते हैं। पश्चिमी देशोंमें यह विश्वास लोगोंके मनमें कभी यथार्थ रूपमें नहीं जमा, क्योंकि साधारण ईसाई-धर्मने इस विश्वासको एक ऐसी धार्मिक परंपराके रूपमें लोगोंके सामने रखा है जिसका युक्ति-वुद्धि, सामान्य चेतना तथा जीवनसंवंधी मनोभावके साथ विलकुल ही कोई सरोकार नहीं है। परंतु भारतमें जीवन-संवंधी वैदांतिक दृष्टिकोणके युक्तिसंगत परिणामके रूपमें ही यह विश्वास पनपा और स्थायी होता गया है तथा इसने जातिकी चेतना-तकमें स्थायी रूपसे अपनी जड़ जमा ली है। इस मतानुसार यह सारा चराचर जगत् भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है; कारण भगवान् ही एकमात्र हैं जो हैं और वाकी सब कुछ उन्हीं एकमात्र सत्‌का या तो सत् या असत् रूप है। इसलिये प्रत्येक जीव किसी-न-किसी अंशमें या किसी-न-किसी रूपमें उन्हीं एक अनंतका नाम-रूपात्मक वाह्य सांतमें अवतरण मात्र है। परंतु यह योगमायासमावृत प्राकट्य है; और भगवान्‌का जो पर भाव है तथा सांत रूपमें जीवकी जो यह पूर्णतः या अंशतः अविद्याच्छन्न चेतना है, इन दोनोंके बीच एक क्रम-परंपरा है। देहमें रहनेवाला चिन्मय आत्मा जिसे देही कहते हैं, भगवदग्निका एक स्फुलिंग है और मनुष्यके अंदर रहनेवाला यह आत्मा जैसे-जैसे आत्मविषयक अपने अज्ञानसे वाहर निकलकर अपनी आत्म-सत्तामें विकसित होता है, वैसे-वैसे वह स्वात्म ज्ञानमें वढ़ता जाता है। भगवान् भी इस विश्वजीवनके नानाविध रूपोंमें अपने-आपको ढालते हुए, सामान्यतः, इसकी शक्तियोंके उत्कर्षमें, इसके ज्ञान, प्रेम,

आनंद और विभूतिकी तेजस्विता और विपुलतामें, अपनी दिव्यताकी कलाओं और रूपोंमें आविर्भूत हुआ करते हैं। परंतु जब भागवत चेतना और शक्ति मनुष्यके रूपको तथा कर्मकी मानव-प्रणालीको अपने ऊपर ले लेती है और इसपर वह अपना स्वत्व केवल शक्ति-मत्ता और विपुलताके द्वारा अथवा अपनी कलाओं और बाह्य रूपोंके द्वारा ही नहीं रखती, बल्कि अपने शाश्वत ज्ञानके साथ रखती है, जब वे अजन्मा अपने-आपको जानते हुए मानव मन-प्राण-शरीरको धारण कर, मानव-जन्मका जामा पहनकर कर्म करते हैं तब वह देश-कालके अंदर भगवान्‌के प्रकट होनेकी पराकाष्ठा है; यही भगवान्‌का पूर्ण और चिन्मय अवतरण है, इसीको अवतार कहते हैं।

वेदांतके वैष्णव संप्रदायमें इस सिद्धांतकी बड़ी मान्यता है और वहां मनुष्यमें रहनेवाले भगवान् और भगवान्‌में रहनेवाले मनुष्यका जो परस्पर-संबंध है वह नर-नारायणके द्विविध रूपमें परिदर्शित किया गया है। इतिहासकी दृष्टिसे नर-नारायण एक ऐसे धर्म-संप्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं जिसके सिद्धांत और उपदेश गीताके सिद्धांतों और उपदेशोंसे बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। नर मानव-आत्मा है, भगवान्‌का चिरंतन सखा है, जो अपने स्वरूपको तभी प्राप्त होता है जब वह इस सखा-भावमें जागृत होता है, और तब वह जैसा कि गीतामें कहा गया है, उन भगवान्‌में निवास करने लगता है। नारायण मानव-जातिमें सदा वर्तमान भागवत आत्मा हैं, वे सर्वांतर्यामी हैं, मानव-जीवके सखा और सहायक हैं, ये वे हैं जिन्हें गीताने कहा है "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति।" हृद्देशके इस गूढ़ाशयके ऊपरसे जब आवरण हटा लिया जाता है और मनुष्य ईश्वरका साक्षात् दर्शन कर उनसे प्रत्यक्ष संभाषण करता है, उनके दिव्य शब्द सुनता है, उनकी दिव्य ज्योति ग्रहण करता और उनकी दिव्य शक्तिसे युक्त होकर कर्म करता है तब इस देहेन्द्रियसंयुक्त सचेतन मानव-जीवका परमोद्धार होकर उस अज अविनाशी शाश्वत स्वरूपको प्राप्त होना संभव होता है। तब वह भगवान्‌में निवास

और सर्वभावसे भगवान्‌में अपनी समस्त चेतनाको समर्पित कर देनेमें समर्थ होता है जिसे गीताने 'उत्तमं रहस्यम्' माना है। जब यह शाश्वत दिव्य चेतना जो मानव-प्राणिमात्रमें सदा विद्यमान है अर्थात् नरमें विराजमान ये नारायण भगवान् इस मानव-चैतन्यको अंशतः या पूर्णतः अधिकृत कर लेते और दृश्यमान मानव-शरीरमें जगद्‌गुरु, आचार्य या जगन्नेता होकर प्रकट होते हैं तब यह उनका प्रत्यक्ष अवतार कहा जाता है। यह उन आचार्यों या नेताओंकी बात नहीं है जो सब प्रकारसे हैं तो मनुष्य ही पर कुछ ऐसा भी अनुभव करते हैं कि दिव्य प्रज्ञाकी ही शक्ति, ज्योति या प्रेम उनका पोषण कर रहा है और उनके द्वारा सब कार्य करा रहा है, बल्कि यह उन मानव-तनुधारीकी बात है जो साक्षात् उस दिव्य प्रज्ञासे, सीधे उस केंद्रीभूत शक्ति और परिपूर्णतासे पोषित और परिचालित होते हैं। मनुष्यके अंदर जो भगवान् हैं वह नरमें नारायणके सनातन अवतार हैं, और नरमें जो उनकी अभिव्यक्ति है वही है बहिर्जगत्‌में उनका चिह्न और विकास। ....

अवतारका स्वरूप और हेतु

........अब हम लोग इस तत्त्वको जरा और अंदर पैठकर देखें और उस दिव्य जीवनके वास्तविक अभिप्रायको समझें जिसके बाह्य स्वरूपको ही अवतार कहते हैं।.....सबसे पहले हम (गीता-में कहे गये) श्रीभगवान्‌के उन शब्दोंका अनुवाद करके सामने रख दें जिनमें अवतारके स्वरूप और हेतुका संक्षेपमें वर्णन किया गया है तथा उन श्लोकों या वचनोंको भी ध्यानमें ले आवें जो उससे संबंध रखते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं, "बहुतसे जन्म, हे अर्जुन, मेरे और तेरे भी बीत चुके हैं; मैं उन सबको जानता हूं, पर तू नहीं जानता। हे परंतप, मैं अपनी सत्तासे यद्यपि अज और अविनाशी हूं, सब भूतोंका

स्वामी भी हूं, तो भी मैं अपनी प्रकृतिको अपने अधीन रखकर आत्म-मायासे जन्म लिया करता हूं। जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्मका उत्थान होता है, तब-तब मैं अपना सृजन करता हूं। साधु पुरुषोंका उद्धार और पापात्माओंका संहार करने तथा धर्मकी संस्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें जन्म लिया करता हूं। मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो कोई तत्त्वतः जानता है वह इस शरीरको छोड़नेपर पुनर्जन्मको नहीं बल्कि, हे अर्जुन, मुझको प्राप्त होता है। राग, भय और क्रोधसे मुक्त, मेरे ही भावमें लीन, मेरा ही आश्रय करनेवाले, ज्ञानतपसे पुनीत अनेकों पुरुष मेरे भावको (पुरुपोत्तमके भावको) प्राप्त हुए हैं। जो जिस प्रकार मेरी ओर आते हैं उन्हें मैं उसी प्रकारसे प्रेमपूर्वक ग्रहण करता हूं (भजामि); हे पार्थ, सब मनुष्य सब तरहसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।"

परंतु बहुतसे मनुष्य, गीता अपना कथन जारी रखते हुए आगे बतलाती है कि अपने कर्मोंकी सिद्धि चाहते हुए, देवताओंके अर्थात् एक परमेश्वरके विविध रूपों और व्यक्तित्वोंके प्रीत्यर्थ यज्ञ करते हैं, क्योंकि कर्मोंसे — ज्ञानरहित कर्मोंसे — होनेवाली सिद्धि मानव-जगत्में सुगमतासे प्राप्त होती है; पर वह केवल उसी जगत्की होती है। परंतु दूसरी सिद्धि, अर्थात् पुरुपोत्तमके प्रीत्यर्थ किये जानेवाले ज्ञान-युक्त यज्ञके द्वारा मनुष्यकी दिव्य आत्मपरिपूर्णता, उसकी अपेक्षा अधिक कठिनतासे प्राप्त होती है; इस यज्ञके जो फल होते हैं वे सत्ताकी उच्चतर भूमिकाके होते हैं और जल्दी पकड़में नहीं आते। इसलिये मनुष्योंको अपने गुण-कर्मके अनुसार चतुर्विध धर्मका पालन करना पड़ता है और सांसारिक कर्मके इस क्षेत्रमें वे भगवान्को उन-के विविध गुणोंमें ही ढूंढ़ते हैं। परंतु भगवान् कहते हैं कि यद्यपि मैं चतुर्विध कर्मोंका कर्त्ता और चातुर्वर्ण्यका स्रष्टा हूं तो भी मुझे अकर्त्ता, अव्यय, अक्षर आत्मा ही जानना चाहिये। "कर्म मुझे लिप्त नहीं करते, न कर्मफलकी मुझे कोई स्पृहा है।" कारण भग-वान् नैर्व्यक्तिक हैं और इस अहंभावापन्न व्यक्तित्वके तथा प्रकृतिके

गुणोंके इस द्वंद्वके परे हैं, और अपने पुरुपोत्तम स्वरूपमें भी, जो उनका नैर्व्यक्तिक पुरुपभाव है, वे कर्मके अंदर रहते हुए भी अपनी इस परम स्वतंत्रतापर अधिकार रखते हैं। इसलिये दिव्य कर्मोंके कर्त्ताको चातुर्वर्ण्यका पालन करते हुए भी उसीको जानना और उसीमें रहना चाहिये जो परे है, जो नैर्व्यक्तिक है और फलतः जो परमेश्वर है। "इस तरह जो मुझे जानता है," भगवान् कहते हैं कि, "वह अपने कर्मोंसे नहीं बंधता। यही जानकर मुमुक्षु लोगोंने पुराकालमें कर्म किया; इसलिये तू भी उसी पूर्वतर प्रकारके कर्मका आचरण कर जो पूर्व पुरुषोंद्वारा आचरित हुआ है।"

गीताके जिन श्लोकोंका अनुवाद ऊपर दिया गया है उनमेंसे पीछेके श्लोक.....दिव्य कर्मका स्वरूप बतलाते हैं और पहलेके श्लोक.....दिव्य जन्म अर्थात् अवतार-तत्त्वका प्रतिपादन' करते हैं। पर यहां हमें एक बात बड़ी सावधानीके साथ कह देनी है कि अवतारका आना—जो मानव-जातिके अंदर भगवान्‌का व्यक्त परम रहस्य है—केवल धर्मकी संस्थापनाके लिये ही नहीं होता; क्योंकि धर्म संस्थापन स्वयं कोई इतना बड़ा और पर्याप्त हेतु नहीं है, कोई ऐसा महान् लक्ष्य नहीं है जिसके लिये ईसा या कृष्ण या बुद्धको उतर आना पड़े, धर्मसंस्थापन तो किसी और भी महान्, परतर और भागवत संकल्पसिद्धिकी एक सहचरी अवस्थामात्र है। कारण, दिव्य जन्मके दो पहलू हैं; एक है अवतरण, मानवजातिमें भगवान्‌का जन्मग्रहण, मानव आकृति और प्रकृतिमें भगवान्‌का प्राकट्य, यही सनातन अवतार है; दूसरा है आरोहण, भगवान्‌के भावमें मनुष्यका जन्मग्रहण, भागवत प्रकृति और भागवत चैतन्यमें उसका उत्थान (मद्भावमागताः); यह जीवका नवजन्म, द्वितीय जन्म है। भगवान्‌का अवतार लेना और धर्मकी स्थापना करना इसी नवजन्मके लिये होता है।.....

यदि परमेश्वर-सत्ताके अंदर आरोहण करनेमें मनुष्यकी सहायता करना मानव-रूपमें परमेश्वरके अवतरणका हेतु न हो तो धर्मके

लिये भगवान्‌का अवतार लेना एक निरर्थकसा व्यापार प्रतीत होगा; कारण, धर्म, न्याय और सदाचारकी रक्षाका कार्य तो भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्ता अपने सामान्य साधनोंके द्वारा, अर्थात् महापुरुषों और महान् आंदोलनोंके द्वारा तथा ऋषियों, राजाओं और धर्माचार्योंके द्वारा सदा कर ही सकती है, उसके लिये अवतारकी कोई यथार्थ आवश्यकता नहीं है। अवतारका आना होता है मानव-प्रकृतिमें भागवत प्रकृतिको प्रकट करनेके लिये, ईसा, कृष्ण और बुद्धकी भगवत्ताको अभिव्यक्त करनेके लिये, जिससे कि मानव-प्रकृति अपने सिद्धांत, विचार, अनुभव, कर्म और सत्ताको ईसा, कृष्ण और बुद्धके सांचेमें ढालकर स्वयं भागवत प्रकृतिमें रूपांतरित हो जाय। अवतार जो धर्म स्थापित करते हैं उसका मुख्य हेतु भी यही होता है; ईसा, बुद्ध, कृष्ण इस धर्मके तोरणद्वार बनकर स्थित होते हैं और अपने अंदरसे ही वह मार्ग निर्माण करते हैं जिसका अनुवर्तन करना मनुष्योंका धर्म होता है। यही कारण है कि प्रत्येक अवतार मनुष्योंके सामने अपना ही दृष्टांत रखते और अपने-आपको ही एकमात्र मार्ग और तोरण-द्वार घोषित करते हैं; अपनी मानवताको ईश्वरकी सत्ताके साथ एक बतलाते और यह भी प्रकट करते हैं कि मैं जो मानव-पुत्र हूं वह और जिस ऊर्ध्वस्थित पितासे मैं अवतरित हुआ हूं वह, दोनों एक ही हैं,—मनुष्य शरीरमें जो श्रीकृष्ण हैं वे (मानुषीं तनुमाश्रितम्) और परमेश्वर तथा सर्वभूतोंके सुहृत् जो श्रीकृष्ण हैं वे, ये दोनों उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमके ही प्रकाश हैं, वहां वे अपनी ही सत्तामें प्रकट हैं, यहां मानव-आकारमें प्रकट हैं।

....गीताकी भाषासे यह स्पष्ट होता है कि दिव्य जन्ममें भगवान् अपनी अनंत चेतनाके साथ मानवताके अंदर जन्म लेते हैं और यह मूलतः सामान्य (जीवके) जन्मका उलटा प्रकार है — यद्यपि जन्मके साधन वे ही हैं जो सामान्य जन्मके होते हैं — क्योंकि यह अज्ञानमें जन्म लेना नहीं है, बल्कि यह ज्ञानका जन्म है, कोई भौतिक घटना नहीं बल्कि आत्माका जन्म है। यह आत्माका स्वतः-

स्थित पुरुष-रूपसे जन्मके अंदर आना है, अपने भूतभावको सचेतन रूपसे नियंत्रित करना है, अज्ञानके बादलमें अपने-आपको खो देना नहीं है। यह पुरुषका प्रकृतिके प्रभुके रूपमें शरीरमें जन्म लेना है। यहां प्रभु अपनी प्रकृतिके ऊपर खड़े होकर स्वेच्छासे, स्वच्छंद-तापूर्वक उसके अंदर कार्य करते हैं, उसके अधीन, बेबस होकर, भवचक्ररूपी यंत्रमें फंसे-भटकते नहीं रहते, क्योंकि उनका कर्म ज्ञान-कृत होता है, सामान्य प्राणियोंकासा अज्ञानकृत नहीं होता। यह सब प्राणियोंके अंदर छिपे हुए अंतर्यामी अंतरात्माका ही परदेकी आड़से बाहर निकल आना और मानवरूपमें पर भगवान्‌की भांति, उस जन्मको अधिकृत करना है जिसे वह सामान्यतः परदेकी आड़में ईश्वररूपसे अधिकृत किये रहता है, जब कि परदेके बाहरकी जो बहिर्गत चेतना है वह अधिकारी होनेकी अपेक्षा स्वयं ही अधिकृत रहती है, क्योंकि वहां वह आंशिक सचेतन सत्ता-रूपसे आत्मविस्मृत जीव है और प्रकृतिके अधीन जो यह जगत्-व्यापार है उसके द्वारा अपने कर्ममें बंधा है। इसलिये अवतारका अर्थ है भागवत पुरुष श्रीकृष्णका सत्ताके दिव्य भावको मानवताके अंदर प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट करना। भगवान् गुरु अर्जुनको, जो मानव-आत्मा है, मानवप्राणिका श्रेष्ठतम नमूना है, उसी दिव्य भावमें ऊपर उठनेके लिये निमंत्रित करते हैं और उस भावमें वह तभी पहुंच सकता है जब वह अपनी सामान्य मानवताके अज्ञान और सीमाको पार कर चुकेगा। यह ऊपरसे उसी तत्त्वका नीचे आकर आविर्भूत होना है जिसे हमें नीचेसे ऊपर चढ़ा ले जाना है; यह मानव-सत्ताके उस दिव्य जन्ममें भगवान्‌का अवतरण है जिसमें हम मर्त्य प्राणियोंको आरोहण करना है; यह मानव-प्राणिके सम्मुख, मनुष्यके ही आकार और प्रकारके अंदर तथा मानव-जीवनके पूर्णताप्राप्त आदर्श नमूनेके अंदर, भगवान्‌का एक आकर्षक दिव्य उदाहरण है।

भगवान्‌के अवतरणकी प्रणाली

गीता साफ-साफ शब्दोंमें कहती है कि भगवान् स्वयं जन्म लेते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे बहुतसे जन्म बीत चुके और अपने शब्दोंसे यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे ग्रहणशील मानव-प्राणीमें उतर आनेकी बात नहीं कह रहे हैं, बल्कि भगवान्‌के ही बहुतसे जन्म ग्रहण करनेकी बात कह रहे हैं, क्योंकि यहां वह ठीक सृष्टिकर्त्ताकी भाषामें बोल रहे हैं....। वह कहते हैं "यद्यपि मैं प्राणियोंका अज अविनाशी ईश्वर हूं, तो भी मैं अपनी मायासे अपने-आपको सृष्ट करता हूं" अपनी प्रकृतिके कार्योंका अधिष्ठाता होकर। यहां ईश्वर और मानव-जीव या पिता और पुत्रकी, दिव्य मनुष्यकी कोई बात नहीं है, बल्कि केवल भगवान् और उनकी प्रकृतिकी बात है। भगवान् अपनी ही प्रकृतिके द्वारा मानव-आकार और प्रकारमें उतर कर जन्म लेते हैं। यद्यपि वे मनुष्यके आकार, प्रकार और सांचेके अंदर रहकर कर्म करना स्वेच्छासे स्वीकार करते हैं, तो भी वे उसके अंदर भागवत चेतना और भागवत शक्तिको ले आते हैं और शरीरके अंदर प्रकृतिके जो कर्म होते हैं उनका नियमन वे उसके अंतःस्थित और ऊर्ध्वस्थित आत्मा रहकर करते हैं, "प्रकृति स्वां अधिष्ठाय।" ऊपरसे वे सदा ही शासन करते हैं, क्योंकि इसी तरह वे समस्त प्रकृतिका शासन करते हैं, और मनुष्य-प्रकृति भी इसके अंतर्गत है; अंदरसे भी वे सारी प्रकृतिका सदा ही शासन करते हैं, पर स्वयं छिपे हुए रहकर; यहां जो कुछ अंतर है वह यह है कि अवतारमें वे अभिव्यक्त रहते हैं, प्रकृतिको ईश्वर-रूपमें भगवान्‌की सत्ताका, अंतर्यामीका सचेतन ज्ञान रहता है, यहां प्रकृति-का संचालन ऊपरसे उनकी गुप्त इच्छाके द्वारा 'स्वर्गस्थ पिताकी प्रेरणाके द्वारा' नहीं होता, बल्कि भगवान् अपने प्रत्यक्ष प्रकट संकल्पसे ही प्रकृतिका संचालन करते हैं। यहां किसी मनुष्यको मध्यस्थ बनानेके लिये कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि यहां 'भूतानां'

ईश्वर अपनी प्रकृतिका आश्रय करके, किसी जीवकी विशिष्ट प्रकृतिका नहीं, मानव-जन्मके जामेको ओढ़ लेते हैं।

बात बड़ी विलक्षण है, जल्दी समझमें आने लायक नहीं है, मनुष्यकी बुद्धिके लिये इसे ग्रहण करना आसान नहीं है; और इसका कारण भी स्पष्ट है —— अवतार आखिर होते हैं तो स्पष्ट रूपसे मनुष्यके ही जैसे। पर अवतारके सदा दो रूप होते हैं —— भागवत रूप और मानव-रूप; भगवान् ओढ़ लेते हैं मानव-प्रकृतिको, उसकी सारी बाह्य सीमाओंको और उसीको बना लेते हैं भागवत चैतन्य और भागवत शक्तिकी परिस्थिति, साधन और करण; दिव्य जन्म और दिव्य कर्मका एक पात्र।....क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अवतारके अवतरणका उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो सकता। अवतरणका उद्देश्य तो यही दिखलाना है कि मानव-जन्म मनुष्यकी सारी सीमाओंके रहते हुए भी दिव्य जन्म और दिव्य कर्मका साधन और करण बनाया जा सकता है, अभिव्यक्त दिव्य चैतन्यके साथ मानव-चैतन्यका मेल बैठाया जा सकता है, मानव-चैतन्यका धर्मांतर करके उसे दिव्य चैतन्यका एक पात्र बनाया जा सकता है, और उसके सांचेको रूपांतरित करके तथा उसके प्रकाश, प्रेम, सामर्थ्य और पवित्रताकी शक्तियोंको ऊपर उठा करके उसे दिव्य चैतन्यके अधिक समीप लाया जा सकता है। और यह सब कैसे किया जा सकता है यह दिखलाना भी अवतारके उद्देश्यमें शामिल है। यदि अवतारके द्वारा अद्भुत चमत्कार ही हुआ करें, जो मनुष्यके सामान्य जीवनमें संभव नहीं, तो इससे अवतरणका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता — असाधारण अथवा अद्भुत चमत्काररूप अवतारके होनेका कुछ मतलब ही नहीं होता। तब यह भी जरूरी नहीं कि अवतार असाधारण शक्तियोंका प्रयोग — जैसे ईसाके रोगियोंको आराम कर देनेवाले तथाकथित चमत्कार — करें ही नहीं, क्योंकि असाधारण शक्तियोंका प्रयोग मावन-प्रकृतिकी संभावनाके बाहरकी बात नहीं है। परंतु इस प्रकारकी कोई शक्ति न भी हो तो उससे अवतारमें कोई कमी नहीं

आती, न यह कोई मूल बात है, और यदि अवतारका जीवन केवल एक असाधारण आतिशवाजीका खेल हो तो इससे भी काम नहीं चलेगा। अवतार कोई ऐंद्रजालिक जादूगर वनकर नहीं आते, प्रत्युत मनुष्यजातिके भागवत नेता और भागवत मनुष्यके एक दृष्टांत होकर आते हैं। मनुष्योंचित शोक और भौतिक दुःख भी उन्हें झेलने पड़ते हैं और उनसे काम लेना पड़ता है जिससे कि वे यह दिखला सकें कि किस प्रकार इस शोक और दुःखको आत्मोद्धारका साधन वनाया जा सकता है। ईसाने दुःखोंको उठाकर यही दिखाया। फिर दूसरी वात उन्हें यह दिखलानी होती है कि मानव-प्रकृतिमें अवतरित भागवत आत्मा इस शोक और दुःखको अपने ऊपर ओढ़ लेनेके बाद उसी प्रकृतिमें उसे किस प्रकार जीत सकता है। बुद्धने यही करके दिखाया था। ......भागवत आनंदके अवतारके आनेसे पहले शोक और दुःखको झेलनेवाले अवतारकी भी आवश्यकता होती है ; मनुष्यकी श्रीमांको ओढ़ लेनेकी आवश्यकता होती है ताकि यह दिखाया जा सके कि इसे किस प्रकार पार किया जा सकता है। और यह सीमा किस प्रकार या कितनी दूरतक पार की जायगी, केवल आंतरिक रूपसे पार की जायगी या वाह्य रूपसे भी, यह वात मानवजातिके उत्कर्षकी अवस्थापर निर्भर करेगी, यह सीमा किसी अमानव चमत्कारके द्वारा नहीं लांघी जायगी।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है......कि अवतारके द्वारा मन, वुद्धि और शरीरका ग्रहण कैसे होता है? कारण इनकी सृष्टि अकस्मात् एक साथ इसी रूपमें नहीं हुई होगी, वल्कि भौतिक या आध्यात्मिक या दोनों ही प्रकारके किसी विकासक्रमसे ही हुई होगी। इसमें संदेह नहीं कि अवतारका अवतरण दिव्य जन्मकी ओर मनुष्यके आरोहणके समान ही तत्त्वतः एक आध्यात्मिक व्यापार है; जैसा कि गीताके 'आत्मानं सृजामि' वाक्यसे जान पड़ता है, — यह आत्माका जन्म होता है। परंतु फिर भी इसके साथ एक भौतिक जन्म तो लगा ही रहता है। तव यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अवतारके

मानवी मन और शरीरका कैसे निर्माण होता है। ..... गीताके इसी अवतारवाले श्लोकमें ही पुनर्जन्मका सिद्धांत स्वयं अवतारके लिये भी हिम्मतके साथ घटाया गया है, और पुनर्जन्मके संबंधमें जो सामान्य मान्यता है वह यही है कि पुनर्जन्म ग्रहण करनेवाला जीव स्वयं ही अपने पिछले आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक विकासके अनुसार अपने मनोमय और भौतिक शरीरको निर्धारित करता या यों कहें कि तैयार करता है। जीव स्वयं ही अपना शरीर निर्माण करता है, उसका शरीर उससे पूछे बिना यों ही तैयार नहीं कर दिया जाता। तो क्या इससे हम यह समझ लें कि सनातन या सतत अवतार अपने अनुकूल अपना मनोमय और अन्नमय शरीर मानव-विकासकी आवश्यकता और गतिके अनुसार आप ही निर्माण करते और इस तरह युग-युगमें प्रकट हुआ करते हैं? इसी तरहके किसी एक भावसे कुछ लोग विष्णुके दश अवतारोंकी व्याख्या करते हैं। .... हमारी आधुनिक मनोवृत्तिके लिये इस व्याख्याको स्वीकार करना बहुत ही कठिन है, किंतु ऐसा मालूम होता है कि गीताकी भाषाका रुख इस ओर ही है। अथवा जब कि गीता इस समस्याका साफ तौरपर समाधान नहीं देती तब हम लोग अपने ही किसी दूसरे तरीकेसे इस प्रश्नको हल कर सकते हैं और यह कह सकते हैं कि अवतारका शरीर तो जीवके द्वारा निर्माण होता है पर जन्मसे उसे धारण करते हैं भगवान्, अथवा यह भी कह सकते हैं कि इस शरीरको गीतोक्त 'चत्वारो मनवः' अर्थात् प्रत्येक मानव मन और शरीरके आध्यात्मिक पितर प्रस्तुत करते हैं। अवश्य ही इस तरह करना गूढ़ रहस्यमय क्षेत्रकी गहराईमें प्रवेश करना है...... परंतु जब हमने अवतारका होना मान लिया तब रहस्यमय क्षेत्रमें हमारा प्रवेश तो हो ही गया और जब प्रवेश हो गया तब एक-एक कदम मजबूतीसे रखते हुए आगे बढ़ते चलना ही उत्तम है।.....

अवतारका कार्य

भगवान्‌के जन्मके समान ही उनके उस कर्मका भी, जिसके लिये उनका अवतार हुआ करता है, द्विविध भाव और द्विविध रूप होता है। क्रिया और प्रतिक्रियाके जिस विधानके द्वारा तथा उत्थान और पतन-रूपी जिस सहज व्यवस्थाके द्वारा प्रकृति अग्रसर होती है उस विधान और व्यवस्थाके होते हुए भी भागवत धर्मकी रक्षा और पुनर्गठनके लिये इस वाह्य जगत्‌पर भागवत शक्तिकी जो क्रिया होती है, यही है दिव्य कर्मका वाह्य पहलू, और यह भागवत धर्म ही मानव-जातिके भगवन्मुखी प्रयासको समस्त विघ्न-वाधाओंसे उवारकर निश्चित रूपसे आगे वढ़ाता रहता है। इसका आंतर पहलू यह है कि भगवन्मुख चैतन्यकी दिव्य शक्ति, व्यक्ति और जातिके आत्मापर क्रिया करती है जिसमें कि वह मानवरूपमें अवतरित भगवान्‌के नये-नये प्रकाशको ग्रहण कर सके और अपने ऊर्ध्वमुखी आत्मविकासकी शक्तिको वनाये रख सके, जिसमें एक नवजीवन ला सके और उसे समृद्ध कर सके। अवतारका अवतरण केवल किसी महान् वाह्य कर्मके लिये नहीं होता जैसा कि कर्मप्रवण मनुष्य समझा करते हैं। कर्म और वाह्य घटना स्वयं अपना कोई मूल्य नहीं रखते, उनका मूल्य उस शक्तिपर आश्रित है जिसकी ओरसे वे होते हैं और उस भावपर आश्रित है जिसके कि वे प्रतीक होते हैं, और उस भावको सिद्ध करना ही उस शक्तिका काम होता है।

जिस संकटकी अवस्थामें अवतारका आविर्भाव होता है वह वाहरी नजरमें वाह्य घटनाओं और जड़ जगत्‌में महत् परिवर्तन करनेवाले कार्योंके होनेका एक असाधारण-सा काल प्रतीत होता है। परंतु इसके वास्तविक मूल अभिप्रायको देखें तो यह मालूम होगा कि यह संकट मानव-चेतनामें तव आता है जब उस चेतनाका कोई महान् परिवर्तन, कोई नवीन विकास होनेवाला होता है। इस परिवर्तनको सिद्ध करनेके लिये किसी दिव्य शक्तिकी आवश्यकता होती है; किंतु शक्तिका यह नियम है कि जिस कोटिकी चेतनाको लेकर वह काम

करती है, स्वयं भी उसी प्रकारकी वन जाती है; इसलिये भागवत शक्तिके द्वारा किसी कर्मके होनेके लिये यह आवश्यक है कि पहले मनुष्यके अंतःकरण और अंतरात्मामें भागवत चैतन्यका आविर्भाव हो। जहां कोई ऐसा परिवर्तन करना होता है जो मुख्यतः बौद्धिक और लौकिक है, वहां अवतारके आनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती; मानव-चेतना ही स्वयं ऊपर उठ जाती है, शक्तिकी एक महान् अभिव्यक्ति होती है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपनी साधारण अवस्थासे ऊपर उठ जाते हैं और चेतना तथा शक्तिकी यह लहर कुछ असाधारण व्यक्तियोंमें अपनी पराकाष्ठाको प्राप्त हो जाती है और इन्हीं असाधारण व्यक्तियोंको विभूति कहते हैं; इन विभूतियोंका कार्य सर्वसाधारण मानवजातिके कार्यका नेतृत्व करना है और यह उद्दिष्ट परिवर्तनके लिये पर्याप्त होता है।......पर जव किसी संकटके मलमें कोई आध्यात्मिक वीज या हेतु होता है तव मानव मन और अंतरात्मामें प्रवर्तक और नेताके रूपमें भागवत चैतन्यका पूर्ण या आंशिक प्रादुर्भाव होता है। यही होता है अवतार।

अवतारके वाह्य कर्मका वर्णन गीतामें "धर्मसंस्थापनार्थाय" कहकर किया गया है; जव-जव धर्मकी ग्लानि या ह्रास होता है, उसका वल क्षीण हो जाता है और अधर्म सिर उठाता, प्रवल होता और अत्याचार करता है तव-तव अवतार आते और धर्मको फिरसे शक्तिशाली वनाते-हैं।.......परंतु अवतारके कार्यके इस वर्णनको ठीक तरहसे समझनेके लिये यह आवश्यक है कि हम धर्म शव्दके अत्यंत पूर्ण, अत्यंत गभीर और अत्यंत व्यापक अर्थको ग्रहण करें, धर्मको वह आंतर और वाह्य विधान समझें जिसके द्वारा भागवत संकल्प और भागवत ज्ञान मानवजातिका आध्यात्मिक विकास साधित करते और जातिके जीवनमें उसकी विशिष्ट परिस्थितियां और उनके परिणाम उत्पन्न करते हैं। भारतीय धारणाके अनुसार...... धर्म वह है जिसे हम धारण करते हैं और फिर वह भी है जो हमारी सब आंतर और वाह्य क्रियाओंको एक साथ धारण किये रहता है। धर्म शव्दका प्राथमिक

अर्थ हमारी प्रकृतिका वह मूल विधान है जो गुप्त रूपसे हमारे सब कर्मोंको नियत करता है और इसलिये इस दृष्टिसे प्रत्येक जीव, प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति और समूहका अपना-अपना एक विशिष्ट धर्म होता है। दूसरी बात यह है कि हमारे अंदर जो भागवत प्रकृति है उसे भी हमारे अंदर विकसित और व्यक्त होना है, और इस दृष्टिसे धर्म अंत:क्रियाओंका वह विधान है जिसके द्वारा भागवत प्रकृति हमारी सत्ताके अंदर विकसित होती है। फिर एक तीसरी दृष्टिसे धर्म वह विधान है जिससे हम अपने बहिर्मुखी विचार, कर्म और पारस्परिक संबंधोंको नियंत्रित करते हैं ताकि भागवत आदर्शकी ओर उन्नत होनेमें हमारी और मानवजातिकी अधिकसे अधिक सहायता हो। .....

इन्हीं सब बातोंसे अवतारके कर्मका स्वरूप निश्चित और निर्धारित होता है।......अवतारके कार्यमें ये तीन बातें अवश्य होती हैं: अवतार एक धर्म बतलाते हैं, आत्मानशासनका एक धर्म बतलाते हैं, जिससे कि मनुष्य निम्नतर जीवनसे निकलकर उच्चतर जीवनमें संवर्धित हों, और धर्ममें, सदा ही कर्मके विषयमें तथा दूसरे-दूसरे मनुष्यों और प्राणियोंके साथ साधकका क्या संबंध होना चाहिये इस विषयमें एक विधान भी रहता है, जैसे कि अष्टांग मार्ग अथवा श्रद्धा प्रेम और पवित्रताका धर्म अथवा इसी प्रकारका और कोई धर्म जो अवतारके भागवत स्वभावमें प्रकट हुआ हो। इसके वाद, चूंकि मनुष्यकी प्रत्येक प्रवृत्तिके सामूहिक और वैयक्तिक दो पहलू हैं, चूंकि जो लोग एक ही मार्गका अनुसरण करते हैं उनमें स्वभावतः ही एक आध्यात्मिक साहचर्य और एकता स्थापित हो जाती है, इसलिये अवतार एक संघकी स्थापना करते हैं, संघ अर्थात् उन लोगोंका सख्य और एकत्व जो अवतारके व्यक्तित्व और शिक्षाके कारण एक सूत्रमें वंध जाते हैं। यही त्रिक "भागवत, भक्त और भगवान्" के रूपमें वैष्णव धर्ममें भी विद्यमान है।......गीताकी शिक्षामें....ये तीनों वातें वहुत व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुई हैं। यहां जो एकता है

वह सब कुछको अपनेमें मिला लेनेवाली वह वैदांतिक एकता है जिसके द्वारा जीव सबको अपने अंदर और अपने-आपको सबके अंदर देखता और सब प्राणियोंके साथ अपने-आपको एक कर लेता है। इसलिये सब प्रकारके मानवसंबंधोंको एक उच्चतर दिव्य अभिप्रायके अंदर ले आना ही धर्म है। ....यह धर्म जो विधान देता है वह है एकताका विधान, समताका विधान, मुक्त निष्काम भगवत्परिचालित कर्मका विधान, ईश्वरज्ञान और आत्मज्ञानका वह विधान जो समस्त प्रकृति और समस्त कर्मको अपनी ओर खींचता और आलोकित करता है, मानवसमाजको भागवत सत्ता और भागवत चेतनाकी ओर आकर्षित करता है तथा भगवत्प्रेमका वह विधान जो ज्ञान और कर्मकी परम शक्ति है, चरम सिद्धि है।

गीतामें प्रेम और भक्तिके द्वारा भगवान्को पानेकी साधना जहां-पर बतलायी गयी है वहां ही संघ और भागवत भक्तोंके भगवत्प्रेम और भगवदनुसंधानके अंदर सख्य और परस्पर साहाय्यका जो मूल भाव है वह आ गया है, पर गीताकी शिक्षाका असली संघ तो समग्र मानवजाति है। सारा जगत् और अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार प्रत्येक मनुष्य ही इस धर्मकी ओर जा रहा है। "मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।" ....

और यहां अवतारका जहांतक प्रश्न है, वह यद्यपि श्रीकृष्णके नाम और रूपमें प्रकट हैं पर वह अपने मानव-जन्मके इस एक रूपपर ही जोर नहीं दे रहे हैं; बल्कि उन भगवान् पुरुषोत्तमकी बात कह रहे हैं जिनका कि यह एक रूप है, समस्त अवतार जिनके ही मानव रूप हैं और मनुष्य जिन-जिन देवताओंके नाम और रूपकी पूजा करते हैं वे सब भी जिनके ही रूप हैं। श्रीकृष्णने जिस मार्गका वर्णन किया है उसके विषयमें यद्यपि यह कहकर घोषित किया है कि यही वह मार्ग है जिसपर चलकर मनुष्य सच्चे ज्ञान और सच्ची मुक्तिको प्राप्त कर सकता है, तथापि यह वह मार्ग है जिसके अंदर अन्य सब मार्ग समाये हुए हैं, इसमें उनका बहिष्कार नहीं है। कारण, भग-

वान् अपनी विश्वव्यापकतामें समस्त अवतारों, समस्त शिक्षाओं और समस्त धर्मोंको लिये हुए हैं।

फिर, यह जगत् जिस युद्धकी रंगभूमि है उसके दो पहलू गीता सामने रखती है, एक आंतर युद्ध और दूसरा बाह्य युद्ध। आंतर युद्धमें शत्रुओंका दल अंदर है, व्यक्तिके अपने अंदर है, और इसमें कामको, अज्ञानको और अहंकारको मार डालना ही विजय है। पर मानवसमूहके अंदर धर्म और अधर्मकी शक्तियोंके बीच एक बाह्य युद्ध भी चल रहा है। धर्मकी शक्तियोंकी सहायता मनुष्यकी दिव्य देवोपम प्रकृति करती है और वे करते हैं जो इस प्रकृतिके प्रतिनिधि हैं या जो मानवजीवनमें उससे सिद्ध करनेका प्रयास कर रहे हैं। दूसरी ओर, अधर्मकी शक्तियोंकी सहायता आसुरी और राक्षसी प्रकृति करती है, जिसका ध्वज है उद्दंड अहंकार और फिर वे लोग करते हैं जो इस अहंकारके प्रतिनिधि हैं और इसे संतुष्ट करनेमें लगे हुए हैं। यही देवासुर-संग्राम है जो प्रतीक-रूपसे प्राचीन भारतीय साहित्यमें भरा पड़ा है। .....इस बाह्य संग्राममें भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे सहायता करने, असुरों अर्थात् दुष्टोंका राज्य नष्ट करने, उन्हें चलानेवाली आसुरी शक्तिका दमन करने और धर्मके पीड़ित आदर्शोंको पुनः स्थापित करनेके लिये भगवान् अवतार लिया करते हैं। व्यष्टिगत मानव-सत्ताके अंदर स्वर्गराज्यका निर्माण करना जैसे भगवदवतारका उद्देश्य होता है वैसे ही मानव-समष्टिके लिये भी उस स्वर्गराज्यको इस पृथ्वीके निकटतर ले आना उनका उद्देश्य होता है।

अवतारविषयक विविध प्रसंग

(श्रीअरविंदके पत्रोंसे संकलित)

भगवान्‌का प्राकट्य

निश्चय ही, पार्थिव चेतनाके लिये स्वयं यह तथ्य ही कि भगवान् प्रकट होते हैं, एक महान्‌से महान् घटना है। जरा यहां पृथ्वीपरके अंधकारकी ओर देखो और यह विचार करो कि यदि भगवान् सीधे हस्तक्षेप न करते और ज्योतियोंकी ज्योति अंधकारमेंसे न फूट निकलती — क्योंकि भागवत अभिव्यक्तिका यही अर्थ है — तो क्या अवस्था होती !

* *

अवतरित होनेवाली शक्ति (अवतार) अपनी अभिव्यक्तिके लिये स्वयं अपने स्थान, शरीर और समयका चुनाव करती है।

* *

परंतु प्रत्येक जीव अपने नये जन्ममें एक नया मन, नया प्राण और नया शरीर तैयार करता है — अन्यथा मि. स्मिथ बराबर मि. स्मिथ ही बने रहेंगे और उन्हें कभी पीयूषकांति घोष होनेका सुयोग नहीं प्राप्त होगा। निःसंदेह, अंदरकी ओर पुराने व्यक्तित्व बने रहते हैं जो नये जीवनमें हिस्सा बंटाते हैं — पर मैं कह रहा हूं नये दृश्य व्यक्तित्वकी बात, बाहरी मनुष्य, उसके मन, प्राण और शरीरकी बात। एक जन्मसे दूसरे जन्मकी कड़ीको वास्तवमें चैत्य पुरुष बनाये रखता है और उस एक व्यक्तिकी समस्त अभिव्यक्तियों-को तैयार करता है। इसलिये हम यह आशा कर सकते हैं कि अवतार प्रत्येक बार एक नया व्यक्तित्व ग्रहण कर सकता है, एक

ऐसा व्यक्तित्व जो नये समय, कार्य और परिस्थितियोंके अनुकूल हो। परंतु इस विषयमें जो मेरा विचार है वह यह है कि इस नये व्यक्तित्वके पीछे अवतारके जन्मोंकी एक लंबी कतार होती है — ये वे जन्म होते हैं जिनमें मध्यवर्ती विकासक्रमका अनुसरण किया जाता है और युग-युगमें उसमें सहायता दी जाती है।

* *

गीतामें प्रयुक्त 'युगे युगे'[1] का व्यवहार साधारण अर्थमें किया जा सकता है जैसे कि अंग्रेजीमें 'From age to age' (फ्राम एज टु एज) पदका प्रयोग होता है और पारिभाषिक रूपमें पौराणिक गणनाके अनुसार निश्चित युगोंकी ओर उसका संकेत नहीं भी हो सकता। परंतु 'बहूनि'[2] में मेरे (कृष्णके) विभिन्न जन्मोंकी ओर संकेत करनेका भाव है, विशेषकर जब कि वह 'तव च' पदके साथ जुड़ा हुआ है। ऐसी हालतमें ये सभी जन्म पूर्ण अवतार नहीं हो सकते, — बहुतसे महज विभूतिजन्म हो सकते हैं जो एक अवतारसे दूसरे अवतारतक योगसूत्रको वहन करते हैं। हरएक जन्ममें उनके साथ अर्जुनके होनेके विषयमें कुछ भी (गीतामें) नहीं कहा गया है, पर ऐसा होना संभव नहीं प्रतीत होता — निस्संदेह बहुतसे जन्मोंमें साथ होना संभव हो सकता है।

*
**

---

[1] अपने बहुतसे जन्मोंके संबंधमें श्रीकृष्ण कहते हैं — संभवामि युगे-युगे। (गीता ४।८)

[2] बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। (गीता ४।५)

अवतार और विभूति

मोटे रूपमें कहें तो अवतार वह है जो अपने अंदर जन्म ग्रहण किये हुए या अपने अंदर अवतरित हुए तथा भीतरसे अपने संकल्प, जीवन और कर्मको संचालित करते हुए भगवान्‌की उपस्थिति और शक्तिके विषयमें सचेतन होता है; वह अपने भीतर इस भागवत उपस्थिति और शक्तिके साथ तादात्म्य अनुभव करता है।

विभूतिके विषयमें यह माना जाता है कि वह भगवान्‌की किसी शक्तिको अभिव्यक्त करता है और उसके द्वारा जगत्‌में अत्यंत वेगके साथ कार्य करनेमें समर्थ होता है; पर इतना ही उसे विभूति बनानेके लिये आवश्यक होता है; उसकी शक्ति बहुत बड़ी हो सकती है, पर उसे इस बातका ज्ञान नहीं होता कि उसके अंदर देवत्वने जन्म लिया है या वह निवास करता है। गीता इस विषयका प्रमुख प्रामाणिक ग्रंथ है और उससे हमें इन दोनोंमें ही यही भेद ज्ञात होता है। यदि हम इस भेदको स्वीकार करें तो हम निस्संदेह यह कह सकते हैं कि उनका जो कुछ वर्णन हमें प्राप्त है उसके आधारपर राम और कृष्णको अवतार माना जा सकता है। बुद्ध भी वैसे ही प्रतीत होते हैं यद्यपि उनके अंदर शक्तिकी कहीं अधिक निर्व्यक्तिक चेतना ही विद्यमान थी। रामकृष्णने भी जब अपने विषयमें यह कहा था कि जो राम थे और जो कृष्ण थे वही इदानीं उनके अंदर विद्यमान हैं, तब उन्होंने उसी चेतनाको व्यक्त किया था। परंतु चैतन्यकी बात बड़ी विचित्र है; क्योंकि उनके वर्णनोंके अनुसार वह साधारणतया अपनेको कृष्णका एक भक्त अनुभव करते और प्रचारित करते थे; इससे अधिक कुछ नहीं। अवश्य ही, किन्हीं महान् क्षणोंमें वह कृष्णको अभिव्यक्त करते थे, अपने मन और शरीरमें ज्योतिष्मान् हो उठते थे तथा स्वयं कृष्ण बन जाते थे, भगवान्‌की तरह ही बोलते और कार्य करते थे। उनके समसामयिक लोगोंने उनके अंदर कृष्णके अवतारको, भागवत प्रेमकी अभिव्यक्तिको अनुभव किया।

शंकर और विवेकानंद, निश्चय ही विभूति थे; उन्हें इससे अधिक

कुछ नहीं माना जा सकता, यद्यपि विभूतियोंके रूपमें वे बहुत महान् थे।



अवतार-तत्त्व और क्रमविकास

अवतार-तत्त्वको यदि क्रमविकासके साथ न जोड़ा जाय तो फिर उसका बहुत मामूली ही अर्थ रह जायगा। हिंदुओंकी दस अवतारोंकी परंपरा भी एक तरहसे क्रमविकासका ही रूपक है। सबसे पहले मत्स्य अवतार, फिर जल और थलके बीचका उभयचर प्राणी कूर्म अवतार, फिर स्थलका पशु वाराह, फिर मनुष्य और पशुको जोड़नेवाला नरसिंह अवतार, फिर वामन-रूपमें मनुष्य, जो छोटा, अविकसित और भौतिक होनेपर भी देवत्वको अपने अंदर धारण किये हुए था तथा समूची व्यक्त सत्तापर उसका अधिकार था, उसके बाद आये राजसिक, सात्त्विक और निर्गुण अवतार जो मानवविकासको प्राणगत राजसिक मनुष्यसे ऊपर उठाकर सात्त्विक मनोमय मनुष्यतक ले गये और फिर अधिमानसिक अतिमानवतक ले गये। कृष्ण, बुद्ध और कल्कि अंतिम तीन अवस्थाओंको, आध्यात्मिक विकासके स्तरोंको दर्शाते हैं। कृष्ण अधिमानसकी संभावनाको उद्घाटित करते हैं, बुद्ध परे चरम मुक्तितक चले जानेका प्रयास करते हैं पर वह मुक्ति अभी अभावात्मक है, वह भावात्मक रूपसे क्रमविकासको पूर्ण बनानेके लिये पृथ्वीपर वापस नहीं आते; इसका सुधार करते हैं कल्कि जो विरोधी आसुरिक शक्तियोंका नाश करके पृथ्वीपर भगवान्‌का राज्य स्थापित करते हैं। विकासकी यह प्रगति बरबस ध्यान आकर्षित करती है और इसे समझनेमें भूलकी कोई गुंजायश नहीं।

अब रही अवतारके जीवनोंके बीचके जीवनोंकी बात। यहां यह याद रखना चाहिये कि कृष्ण भूतकालमें होनेवाले बहुतसे जीवनों-

की वात कहते हैं, केवल कुछ थोड़ेसे प्रधान जन्मोंकी ही नहीं कहते, और दूसरे, जहां वह एक ओर अपनेको भगवान् कहते हैं वहीं दूसरे श्लोकमें वह अपनेको एक विभूति वतलाते हैं, 'वृष्णीनां वासुदेवः।' अतएव हम सहज ही यह मान सकते हैं कि वहुतसे जीवनोंमें उन्होंने अपनेको विभूतिके रूपमें प्रकट किया और पूर्णतर भागवत चेतनाको पर्देकी ओट रखा। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि अवतारका उद्देश्य क्रमिवकासको आगे वढ़ाना है तो यह वात विलकुल युक्ति-संगत मालूम होती है, भगवान् महान् संक्रमणकी अवस्थाओंमें तो अवतार वनकर प्रकट होते हैं और साधारण संक्रमण-कालोंमें विभूति वनकर आते हैं।

* *

यदि इससे (अधिमानसिक मुक्तिसे) परे कोई चीज है तो यह (अधिमानसिक मुक्ति) चरम नहीं हो सकती — पर एक मुक्ति उच्चतर मनमें भी है। जव मैंने चरम मुक्तिकी वात कही थी तव मैंने महज वौद्ध-अद्वैतकी दृष्टिको ही स्वीकार कर लिया था और यह कहकर उसमें सुधार कर लिया था कि निर्वाणकी यह दृष्टि अत्यंत अभावात्मक है। कृष्णने अधिमानसकी संभावनाको उद्घाटित किया और उसमें उपलब्धिके दो पक्ष थे — स्थितिशील (निष्क्रिय) और क्रियाशील। वुद्धने मनसे सीधे परात्परमें जाकर निर्वाण पाने-की चेष्टा की, ठीक जैसे कि उनके बाद शंकरने दूसरे पथसे की। दोनों ही दूसरी अवस्थाओंको लांघ जाने तथा नाम-रूपहीन केवल ब्रह्मको पानेकी चेष्टा करनेमें एकमत हैं। पर कृष्ण, इसके विपरीत, क्रमविकासकी सामान्य धाराका अनुसरण करते हुए आगे ले जा रहे थे। दूसरा सामान्य पग निराकार ब्रह्म नहीं है वल्कि अतिमानस है। मैं समझता हूं कि कूदकर ऊपर चले जानेकी चेष्टा करके शंकर-की तरह वुद्धने भी भूल की और मुक्तिके सक्रिय पक्षका त्याग कर दिया। अतएव कल्किको उसमें सुधार करना होगा।

मैं वास्तवमें "क्रमविकासके रूपक" के रूपमें दस अवतारोंकी व्याख्या कर रहा था और उस दृष्टिकोणसे जो व्याख्या हम दे सकते थे उसे ही समझा रहा था। वह उस विषयमें मेरा निजी दृष्टि-कोण नहीं था।

* *

मैंने केवल अवतारोंकी पौराणिक सूची ली थी और उसकी व्याख्या क्रमविकासके रूपकके रूपमें की थी। मेरा मतलब यह दिखाना था कि क्रमविकासकी भावना अवतारवादके सिद्धांतके पीछे सन्नि-हित है। रही बुद्धको अवतार मानने या उनके स्थानमें किसी दूसरे-को वैठानेकी वात (कुछ सूचियोंमें बुद्धके स्थानमें वलरामका नाम पाया जाता है), सो यह विषय व्यक्तिगत भावनाका है। बौद्ध जातकोंमें बुद्धके पुराने जन्मोंकी कहानियां दी गयी हैं और वहुधा उनके साथ कोई शिक्षा जुड़ी हुई है। ये जातक हिंदू परंपराके अंग नहीं हैं। बौद्धोंके लिये वुद्ध विलकुल अवतार नहीं थे, वह तो एक ऐसी आत्मा थे जो आध्यात्मिक क्रमविकासकी सीढ़ीपर चढ़कर मुक्तिकी अंतिम अवस्थाको पहुंच गयी थी — यद्यपि हिंदुओंके प्रभाव-के कारण बौद्धोंने भी सबसे ऊपर एक शाश्वत वुद्धकी भावनाको विकसित किया था, पर यह कोई सर्वमान्य या मौलिक बौद्धिक भावना नहीं थी। अव रहा यह प्रश्न कि क्या भगवान्‌ने अपने अवतारों-को प्रकट करनेके लिये क्रमविकासकी धाराका अनुसरण एकदम अंतिम स्तरसे किया और प्रत्येक स्तरपर एक विभूतिके रूपमें अव-तारको प्रकट किया और इसका उत्तर अनिवार्य रूपसे नकारात्मक नहीं है। अगर हम क्रमविकासकी भावनाको स्वीकार करें तो ऐसी वातको स्थान मिल सकता है।

यदि वुद्धने कृष्णसे भिन्न शिक्षा दी तो यह वात आध्यात्मिक विकासके अंदर उनके आविर्भावके आवश्यक होनेसे नहीं रोकती।

प्रश्न बस यह है कि विश्व-सत्ताकी अस्वीकृतिके द्वारा विशुद्ध निर्वाण-की चोटियोंपर आरोहण करनेका प्रयत्न करना आवश्यक पग था या नहीं; अवश्य ही इस तथ्यपर दृष्टि रखकर ही इस प्रश्नको देखना होगा कि मनुष्य 'नेति नेति' और 'इति इति', दोनों पथोंसे सर्वोच्च सत्यतक पहुंचनेका प्रयास कर सकता है।

***

बुद्ध

उन्होंने (बुद्धने) वास्तवमें किसी अज्ञेय वस्तुकी स्थापना की जो चिर-स्थायी और अनभिव्यक्त है। अद्वैत मत भी यही करता है। बुद्धने कभी ऐसा नहीं कहा कि वह साकार भगवान्के अवतार हैं, बल्कि उन्होंने यह कहा कि वह बुद्ध हैं। सच पूछो तो हिंदुओंने उन्हें अवतार बनाया। यदि बुद्धने अपने-आपको अवतारके रूपमें देखा होता तो वह अवतार नैर्व्यक्तिक सत्यका ही अवतार हुआ होता।

* *

मैं नहीं जानता कि इतिहासमें कोई दूसरा बुद्ध हुआ होगा। मैं समझता हूं कि वैष्णव पुराणोंने अवतारोंकी सूची तैयार की थी, क्योंकि पुराणोंके अनुसार वे सब विष्णुके अवतार हैं। संभवतः सब लोगोंने अंतिम रूपसे इसे शंकरके बाद ही स्वीकार किया होगा जब कि बौद्धों और ब्राह्मणोंका झगड़ा समाप्त हो गया होगा। क्योंकि कुछ दिनोंतक बुद्धके स्थानमें बलरामका नाम रखनेकी प्रवृत्ति थी अथवा यह कहा जाता था कि बुद्ध विष्णुके अवतार तो थे पर वह असुरोंको बहकानेके लिये आये थे। विष्णु पुराणकी माया-मोहकी कहानीमें स्पष्ट ही उन्हींको लक्ष्य बनाया गया है।

***

श्रीकृष्ण

कृष्ण अतिमानसिक ज्योति नहीं हैं। कृष्णके अवतरणका अर्थ होगा अधिमानसिक भगवान्का अवतरण जो वास्तवमें स्वयं तो अतिमानसिक नहीं हैं, पर अतिमानस और आनंदके अवतरणकी तैयारी करते हैं। कृष्ण हैं आनंदमय; वह अधिमानसके द्वारा क्रमविकासकी सहायता करते और उसे आनंदकी ओर ले जाते हैं।

* *

कोई मनुष्य इस जीवनमें अतिमानस और उसके परे पहुंचे विना भी किसी आध्यात्मिक संस्थाका अधिष्ठाता या किसी धर्मका मसीहा या कोई अवतार हो सकता है।

* *

मैं समझता हूं कि वहुत थोड़ेसे लोगोंने उन्हें (कृष्णको) अवतारके रूपमें पहचाना था,— निश्चय ही, सर्वसामान्य रूपसे तो उन्हें बिलकुल ही अवतार नहीं माना गया था। उन थोड़ेसे लोगोंमेंसे जो लोग उनके सबसे अधिक समीप थे, उन्होंने शायद इसका कोई विचार भी नहीं किया था — वास्तवमें विदुर आदि जैसे वहुत कम प्रमुख लोगोंने ही इस ओर ध्यान दिया था।

* *

जो लोग कृष्णके साथ थे वे संपूर्ण रूपसे देखनेमें दूसरे मनुष्योंकी तरह ही मनुष्य थे। उन्होंने आपसमें वैसे ही वातचीत की और कार्य किया जैसे मनुष्य मनुष्योंके साथ करते हैं। उनके इर्दगिर्द रहनेवाले लोग उन्हें देवता नहीं समझते थे। स्वयं कृष्णको भी अधिकांश लोग मनुष्य ही जानते थे — केवल थोड़ेसे लोग ही उन्हें भगवान्के रूपमें पूजते थे।

*
**

चैतन्य और रामकृष्ण

कृष्ण और भागवत प्रेमके एक अवतारके रूपमें जो चैतन्यका स्थान है उसके विषयमें तनिक भी संदेह उपस्थित करनेका मेरा कोई उद्देश्य नहीं था। उनके विषयमें जो वर्णन मिलता है उससे अभिव्यक्तिका वह स्वरूप (उनका अवतार होना) बहुत स्पष्ट रूपमें झलकता है, और, उनके अंदर कभी-कभी कृष्णके आविर्भावकी जो बात कही जाती है उसे यदि स्वीकार किया जाय तब तो भगवान्‌के ऐश्वर्यके ये भावावेश अवतारकी कहानीके अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रसंग हैं। श्रीरामकृष्णका जहांतक प्रश्न है, उनके अंदरकी अभिव्यक्ति इतनी तीव्र नहीं थी पर अधिक बहुमुखी थी और सौभाग्यसे उनकी बातचीत और कार्योंके विषयमें प्राप्त ब्योरेकी प्रामाणिकतापर कोई संदेह नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे महेन्द्रनाथ गुप्त जैसे एक सुयोग्य निरीक्षकके द्वारा दिन-प्रति-दिन लिखे गये थे। मैं इन दो महान् आध्यात्मिक पुरुषोंके बीच किसी प्रकारकी तुलना करना पसंद नहीं करूंगा। इन दोनोंने ही असाधारण प्रभाव डाला है और अपने-अपने क्षेत्रोंमें महान् कार्य किया है।

*   *

उन्होंने (रामकृष्णने) कभी कोई आत्मकथा नहीं लिखो। अपने शिष्यों तथा दूसरोंके साथ बातचीत करते समय उन्होंने अपने विषयमें कुछ कहा था। अवश्य ही जितने अंशमें ईसा या चैतन्य अवतार थे ठीक उतने अंशमें वह भी अवतार थे।

***

महम्मद और ईसा

महम्मदने स्वयं ही अपने अवतार होनेकी भावनाका त्याग कर दिया होता, इसलिये हमें उन्हें केवल पैगम्वर, यंत्र, विभूति मानना होगा। ईसाने अपनेको पुत्रके रूपमें अनुभव किया जो पुत्र पिताके साथ एक था — इसलिये वह अवश्य ही एक अंशावतार थे।

*
**

कल्किका वर्णन और युगगणना

कल्किके विषयमें दिये गये पूरे व्योरेको वहुत अधिक महत्त्व देनेकी कोई आवश्यकता नहीं — वह कोई भावी इतिहासकी व्योरेवार भविष्यवाणी नहीं है बल्कि एक प्रतीकात्मक वर्णन है। जो कुछ व्यक्त किया गया है वह आगे होनेवाला है, पर वह सव प्रतीकात्मक ढंगसे सूचित किया गया है, इससे अधिक कुछ नहीं।

उसी तरह पुराणोंमें वर्णित युगोंके वर्षोंकी ठीक-ठीक संख्यापर भी वहुत अधिक जोर देनेकी कोई जरूरत नहीं। यहां भी काल और युग क्रमविकासके चक्रमें आनेवाले क्रम-विभागको, नये जन्मसे पहले आनेवाले मानवजातिकी पूर्ण स्थिति, पतन और विनाशके क्रमिक युगोंको सूचित करते हैं; इसमें गणितके ढंगसे हिसाव-किताव लगाना महत्त्वपूर्ण नहीं है। कलियुगका अंत आ गया है या आ रहा है तथा एक नया सत्ययुग आ रहा है — यह तर्क अब वहुत लोग करने लगे हैं और ऐसे अनेक लोग हैं जो इस वातपर विश्वास करते हैं।

*
**

(२)

अवतारके दो पक्ष

अवतार-रूपी विश्व-व्यापारके दो पक्ष हैं — भागवत चैतन्य और प्रकृतिगत यंत्रस्वरूप व्यक्तित्व जो प्रकृतिकी उन अवस्थाओंके अधीन होता है जिसे अवतार अपनी लीलाके नियमोंके अनुसार व्यवहृत करता है। यदि अवतारका कार्य महज चौंधिया देनेवाला एक चमत्कार हो तो मेरे लिये उसका कोई उपयोग नहीं। यदि यह प्रकृतिके अंदर सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की व्यवस्थाका एक सुसंगत अंग हो तो फिर मैं इसे समझ सकता और स्वीकार कर सकता हूं।

*
**

भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्ता

अगर भगवान् मूलतः सर्वशक्तिमान् न होते तो वह कहीं भी सर्वशक्तिमान् न हो पाते — चाहे अतिमानसिक लोकमें हों अथवा अन्य किसी भी लोकमें। चूंकि वह अपने कार्यको अवस्थाओंके द्वारा सीमित करना या निर्धारित करना पसंद करते हैं, इसलिये उनकी सर्वशक्तिमत्ता कम नहीं हो जाती। स्वयं उनका आत्मसीमन भी सर्वशक्तिमत्ताका ही एक कार्य है......।

भला भगवान्‌को अपनी सभी क्रियाओंमें सफल होनेके लिये ही क्यों बंधे रहना चाहिये ? यदि विफलता उन्हें अधिक अनुकूल पड़ती हो और उनके अंतिम हेतुको सिद्ध करनेमें अधिक सहायता करती हो तो फिर उसमें हर्ज ही क्या है ? भगवान्‌के विषयमें ये कितने कठोर और भद्दे विचार हैं !

लीलाके लिये कुछ अवस्थाएं निश्चित कर दी जाती हैं और जबतक वे अवस्थाएं ज्योंकी त्यों बनी रहती हैं, कुछ चीजें नहीं की जा सकतीं, अतएव हम कहते हैं कि वे असंभव हैं, नहीं की जा

सकतीं। यदि अवस्थाएं बदल जायं तो वे ही चीजें की जाती हैं या कम-से-कम करने योग्य बन जाती हैं — प्रकृतिके तथाकथित नियमोंके अनुसार न्यायसंगत, स्वीकार्य बन जाती हैं और तब हम कहते हैं कि वे की जा सकती हैं। भगवान् भी लीलाकी अवस्थाओंके अनुसार कार्य करते हैं। वह उन्हें बदल सकते हैं पर पहले उन्हें उन अवस्थाओंको बदलना होता है, अवस्थाओंको बनाये रखते हुए चमत्कारोंकी एक श्रृंखलाके द्वारा कार्य करनेके लिये वह आगे नहीं बढ़ते।



अवतार और मनुष्य

मैंने यह कहा है कि अवतार वह है जो मनुष्यजातिके लिये किसी उच्चतर चेतनातक पहुंचनेका मार्ग खोल देता है। यदि कोई मनुष्य उस मार्गका अनुसरण नहीं कर सकता तो या तो इस विषयकी हमारी धारणा, जो ईसा और कृष्ण और बुद्धकी भी धारणा है, एकदम गलत है या अवतारका संपूर्ण जीवन और कर्म बिलकुल निरर्थक है। 'क' शायद यह कहना चाहता है कि उस पथका अनुसरण करनेका न तो कोई उपाय है और न कोई संभावना; अवतारके संघर्ष और दुःख-कष्ट मिथ्या और पूर्णतः निरर्थक हैं,—जो भगवान्का प्रतिनिधि है उसके लिये संघर्षकी कोई संभावना नहीं। ऐसी धारणा अवतारवादकी समूची भावनाको अर्थहीन बना देती है। ऐसी हालतमें उसका कोई कारण नहीं रह जाता, उसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, उसका कोई अर्थ नहीं रह जाता, भगवान् सर्वशक्तिमान् होनेके कारण पृथ्वीपर उतरनेका कष्ट उठाये बिना ही लोगोंको ऊपर उठा सकते हैं। यदि विश्व-व्यवस्थाका एक अंग यह भी हो कि भगवान्को मनुष्यजातिका बोझ स्वयं अपने ऊपर लेना चाहिये और उसके लिये मार्ग खोलना चाहिये, केवल तभी अवतारतत्त्वका कोई अर्थ हो सकता है।

*　　　*

भगवान् और मनुष्यके बारेमें जो बात है, सो भी एक मन-निर्मित कठिनाई है। भगवान् यहां मनुष्यमें विद्यमान हैं, और मनुष्य अपनी उच्चतम अभीप्साओं और प्रवृत्तियोंको पूरा कर और अतिक्रम कर भगवान् बन जाता है। यही बात तुम्हारा अवसाद समझ नहीं सका — यह बात कि भगवान् अवतरित होते हैं, वह मनुष्यताके बोझको अतिक्रम करनेके लिये उसे स्वयं अपने ऊपर लेते हैं — वह मानवताको यह दिखानेके लिये कि कैसे भगवान् बना जा सकता है, मनुष्य बन जाते हैं। परंतु ऐसा तबतक नहीं हो सकता जबतक कि वह केवल एक दुर्बल व्यक्ति हो और उसके भीतर कोई दिव्य उपस्थिति या उसके पीछे कोई दिव्य शक्ति न हो — उसे उन सब लोगोंमें अपनी शक्ति भरनेके लिये, जो उसे ग्रहण करनेके लिये इच्छुक हों, शक्तिसंपन्न होना ही होगा। इसलिये उसके अंदर दो तत्त्व विद्यमान रहते हैं — सामने मनुष्यभाव, पीछे भागवत भाव — और यही वह चीज है जो अपरिमेयताकी छाप उत्पन्न करती है जिसकी शिकायत तुमने की थी। यदि तुम केवल मनुष्यपर ही दृष्टि डालो, केवल बाहरी दृष्टिसे ही देखो और अन्य कोई चीज देखनेको इच्छुक या तैयार न होओ तो तुम केवल मनुष्यको ही देखोगे — यदि तुम भगवान्को वहां खोजो तो तुम भगवान्को पाओगे।

* *

यह ठीक है कि भगवान्के तरीके या उद्देश्यके विषयमें विचार करना सीमित मानव-बुद्धिके लिये असंभव है, — भगवान्का तरीका अनंतका सांतके साथ व्यवहार करनेका तरीका है।

* *

यह सब गलत है। अवतार अपने बाह्य उपकरणोंके अंदर ही मानवीय स्वभाव ग्रहण करते हैं, उसके पीछे कार्य करनेवाली चेतना दिव्य होती है।

* *

वह (पीछेसे कार्य करनेवाली भागवत चेतना) अवतारको मनुष्यों-की तरह कार्य करने और अपने जीवन तथा कार्यके लिये प्रकृतिकी क्रियाओंका व्यवहार करनेसे नहीं रोकती।

* *

अच्छे ढंगसे कार्य करनेका मनुष्योंका तरीका एक सुस्पष्ट मान-सिक संपर्कके द्वारा कार्य करनेका तरीका है; वे मनके द्वारा चीजोंको देखते और उन्हें संपन्न करते हैं; वे जो कुछ चाहते हैं वह है मान-सिक और मानवीय परिपूर्णता। जब वे भगवत्तत्त्वकी अभिव्यक्तिकी बात सोचते हैं तब वे समझते हैं कि वह सामान्य मानवीय चीजोंको करनेकी कोई असामान्य परिपूर्णता होगी — कोई असाधारण व्या-पारिक बुद्धि, राजनीतिक, काव्यगत या कलासंबंधी कोई क्षमता, ठीक-ठीक स्मरणशक्ति, भूल न करना, पराजय या विफलताके अधीन न होना आदि-आदि होगी। अथवा, फिर वे ऐसी चीजें समझते हैं जिन्हें ये अतिमानवीय कहते हैं; जैसे भोजन न करना, या रूईके भावकी भविष्यवाणी करना या लोहेकी कीलपर सोना या उन्हें खाना इत्यादि। इन सबका भगवान्‌के प्राकटचके साथ कोई संबंध नहीं है. . . . .। ये मानवीय विचार मिथ्या हैं।

भगवान् एक दूसरी ही चेतनाके अनुसार कार्य करते हैं, वह चेतना है ऊपरके सत्यकी और नीचेकी लीलाकी। वह लीलाकी आवश्यकताके अनुसार कार्य करते हैं, उन्हें क्या करना चाहिये या क्या नहीं — इस विषयमें मनुष्यके विचारोंके अनुसार वह कार्य नहीं करते। यह पहली बात है जिसे मनुष्यको समझ लेना चाहिये, अन्यथा वह भगवान्‌की अभिव्यक्तिके विषयमें कुछ भी नहीं समझ सकता।

* *

यदि तुम्हारा तर्क यह हो कि अवतार (जैसे राम, कृष्ण) के जीवन-कार्य, संघर्ष झूठे हैं क्योंकि वहां तो भगवान् हैं और यह जानते हैं कि यह सब माया है, तो मनुष्यमें भी तो आत्मा है जो अमर है, अस्पृष्ट और दिव्य है; तुम यह भी कह सकते हो कि मनुष्यका दु:ख-कष्ट और अज्ञान केवल ओढ़े गये हैं, कृत्रिम हैं, असत्य हैं। पर यदि मनुष्य उन्हें सच्चा अनुभव करता हो और यदि अवतार अपने कार्य और कठिनाइयोंको गंभीर और सच्चा अनुभव करता हो तो?

यदि भगवत्तत्त्वके अस्तित्वका कोई व्यावहारिक फल न हो तो भला उसे सैद्धांतिक रूपमें स्वीकार कर लेनेसे क्या लाभ? अवतारके अंदर भगवान्‌का प्राकट्य मनुष्यके लिये सहायक इस कारण है कि वह उसे अपने दिव्यत्वको खोजनेमें, उसे प्राप्त करनेका रास्ता ढूंढ़नेमें सहायता करता है। यदि अंतर इतना अधिक हो कि मनुष्यकी मनुष्यता अपने स्वभाववश ही अवतारके द्वारा उन्मुक्त पथका अनुसरण करनेकी सारी संभावनाओंको रोकती हो तब तो इसका अर्थ महज यह होगा कि मनुष्यमें कोई दिव्यत्व नहीं है जो अवतारमें विद्यमान भगवत्वको प्रत्युत्तर दे सके।

* *

मैं दुहरा दूं, जब भगवान् पार्थिव प्रकृतिका बोझ अपने ऊपर लेते हैं तब उसे पूर्ण रूपमें, सच्चाईके साथ और किसी जादूगिरी, चतुराई या छल-कपटके विना लेते हैं। यदि उनके पीछे ऐसी कोई चीज है जो बराबर पर्देसे बाहर प्रकट होती रहती है तो तत्त्वतः यह वही चीज है, भले ही उनमें अधिक मात्रामें हो, जो दूसरोंके पीछे भी है, और इसी चीजको जगानेके लिये वह यहां विद्यमान हैं...।

चैत्य पुरुष उन सबके लिये वही कार्य करता है जो आध्यात्मिक पथका अनुसरण करनेके लिये अभिप्रेत हैं; उसका अनुसरण करनेके लिये मनुष्योंको असाधारण पुरुष होनेकी कोई जरूरत नहीं। तुम

वस यही भूल कर रहे हो, महानताका सुर अलाप रहे हो मानो केवल महान् लोग ही आध्यात्मिक पुरुष हो सकते हों.....।

* *

यदि अवतार नकली हों, दूसरोंके लिये न तो उनका कोई मूल्य हो न कोई सच्चा प्रभाव तो फिर अवतारवाद पूर्ण रूपसे अयुक्ति-संगत, असत्य और अर्थहीन हो जाता है। भगवान्को स्वयं अपने लिये कष्ट भोग करने या संघर्ष करनेकी कोई आवश्यकता नहीं; यदि वह इन चीजोंको अपने ऊपर लेते हैं तो विश्वका बोझ वहन करने तथा विश्व और मनुष्योंको सहायता करनेके लिये ही लेते हैं; और यदि दुःख-कष्टों और संघर्षोंको किसी सहायताके योग्य होना हो तो उन्हें सच्चा भी होना होगा। एक नकली या मिथ्या वस्तु सहायता नहीं कर सकती — उन संघर्षों और कष्टोंको उतना ही सच्चा होना होगा जितने सच्चे स्वयं मनुष्योंके संघर्ष और कष्ट होते हैं — भगवान् उन्हें अपने ऊपर लेते हैं और साथ ही उनसे बाहर निकलनेका रास्ता दिखाते हैं। नहीं तो, उनके मानव-स्वभाव ग्रहण करनेका कोई अर्थ, कोई उपयोगिता, कोई मूल्य नहीं है। यदि तुम अवतारवादमेंसे उसका सारा अर्थ ही निकाल दो तो फिर भला उसे स्वीकार करनेसे क्या लाभ?

*
**

रामके प्रति आक्षेप

रामके ऊपर तुम्हारे आक्षेपोंको देखकर मैं तो वास्तवमें चकित हो गया हूं। वाल्मीकिके रामके विरुद्ध कायरताका दोष लगाना तो सबसे अधिक असंभव है; रामको बराबर ही एक योद्धा माना गया है और सच पूछो तो भारतकी 'सैनिक जातियों' ने ही उन्हें अपना देवता बनाया है। वाल्मीकि सर्वत्र ही उन्हें एक महान् योद्धा-के रूपमें चित्रित करते हैं। एक अव-मानव शत्रुके विरुद्ध छल-छद्म-

का व्यवहार करना इससे उल्टा सिद्ध नहीं करता — क्योंकि सदा ही मनुष्य (महान् योद्धा और शिकारी भी) इसी प्रकार अवमानव प्राणीके साथ व्यवहार करता रहा है। मैं समझता हूं कि मधुसूदनने वाल्मीकिके महान् वीरको वंगालियोंकी आंखोंके सामने हेय वना दिया है और उसे एक दुर्वल कठपुतलीमें वदल दिया है; परंतु असली राम वैसे नहीं थे, वह तो, चाहे कोई कुछ भी क्यों न कहे, एक वहुत उन्नत पुरुष थे — अवतार हों या न हों। परंपरागत नैतिकताका जहांतक प्रश्न है, सभी नैतिकता परंपरागत होती है — मनुष्य विना परंपराओंके, मानसिक और नैतिक परंपराओंके, रह ही नहीं सकता, उसके विना वह प्राणिक प्रकृतिकी विद्रोही शक्तियोंके लहराते समुद्रमें अपनेको खोया हुआ अनुभव करता है। यहांतक कि रसेल और बर्नर्ड शा जैसे लोगोंने भी जिन परंपराओंको ठुकरा दिया है उनके स्थानमें वे अंतमें केवल दूसरी परंपराओंको ही स्थापित कर डालेंगे। एकमात्र मनसे ऊपर चले जानेपर ही मनुष्य वास्तवमें परंपराओंसे परे जा सकता है — कृष्ण ऐसा कर सके थे क्योंकि वह मनोमय मानव नहीं थे वल्कि एक अधिमानसिक देवता थे और मनुष्यकी अपेक्षा एक महत्तर चेतनाके द्वारा स्वतंत्र रूपमें कार्य करते थे। राम वैसे नहीं थे, वह सात्त्विक मनके अवतार थे — मनोमय, भावमय, नैतिक थे — और उन्होंने युग और जातिके धर्मका अनुसरण किया। इस वातके कारण वह स्वभावतः गांधीजीके अनुकूल हो सकते हैं और तुम्हारे एकदम प्रतिकूल; पर ठीक जिस तरह कृष्णके प्रति गांधीजीमें स्वभावतः हिचक होनेके कारण यह सिद्ध नहीं होता कि कृष्ण अवतार नहीं थे, वैसे ही रामके प्रति तुम्हारे अंदर स्वभावतः हिचक होना यह नहीं प्रस्थापित करता कि वह अवतार नहीं थे। परंतु मेरा मुख्य तर्क यह है कि अवतारका होना इन प्रश्नोंपर तनिक भी निर्भर नहीं करता, वल्कि उसका आधार दूसरा है, उसका तात्पर्य और उद्देश्य भिन्न है।

*

रामके पक्षका संपूर्ण समर्थन करनेमें संलग्न होनेकी मेरी कोई मंशा नहीं है — मैंने तो केवल वालि आदिसंबंधी प्रश्नोंको उठाया था, क्योंकि आजकल लोग प्रायः ही निर्दिष्ट स्तरपर एक महान् पुरुष-के रूपमें उनके स्थानको छोटा दिखानेके लिये इन बातोंका उपयोग करते हैं। परंतु अवतारवादकी दृष्टिसे मैं आधुनिक मानदंडोंके अनु-सार उनकी नैतिक पूर्णताका समर्थन करनेका तनिक भी विचार नहीं करता, जैसे कि नैपोलियन या सीजरको विभूति सिद्ध करनेके लिये नैतिकवादियों या प्रजातंत्रवादी आलोचकों या निन्दकोंके विरुद्ध कोई बहस करनेका विचार मैं नहीं करूंगा। विभूति, अवतार ऐसे शब्द हैं जिनका अपना अर्थ और मर्यादा है और तुच्छ मानवीय मानदंडों-के अनुसार निश्चित नैतिकता या अनैतिकता, पूर्णता या अपूर्णता अथवा मनुष्योंके लिये उदाहरण रखने अथवा नया नैतिक भाव दिखाने या नयी आध्यात्मिक शिक्षा देनेके साथ उनका कोई संबंध नहीं है। ये सब बातें की जा सकतीं या नहीं भी की जा सकतीं, परंतु ये उस विषयका बिलकुल ही सार-तत्त्व नहीं हैं।

फिर, रामके मानवीय व्यक्तित्वका वर्णन करनेका जो तुम्हारा ढंग है उसे भी मैं उचित नहीं समझता। वाल्मीकिने उसे जिस चौखटेमें सजाया है उस चौखटेमें एक पूर्ण वस्तुके रूपमें लेना होगा (उसे ऐसे नहीं देखना होगा मानो वह किसी आधुनिक मनुष्यकी कहानी हो) और उसे वह महत्त्व देना होगा जो वाल्मीकिने अपने महावीरके व्यक्तित्व, चरित्र और कार्यको दिया था। यदि उसे उसके चौखटेसे बाहर खींच लाया जाय और आधुनिक नैतिक मनकी चीर-फाड़ करनेवाली छुरीके द्वारा उसका विश्लेषण किया जाय तो यह तुरत अपना संपूर्ण महत्त्व खो देगा। इस तरह विश्लेषण करने-पर कृष्ण एक लंपट और कपटी बन जाते हैं जिन्होंने निःसंदेह राज-नीतिमें महान् कार्य किये थे — पर वैसे ही युद्धमें रामने किया था। ऐचिली और ओडिससको यदि उनके चौखटेसे बाहर खींच लाया जाय तो उनमेंसे एक भीषण अहंकारी बर्बर बन जाता है और दूसरा

निर्दयी तथा धोखेबाज नरपशु। मैं अपना यह कर्तव्य मानता हूं कि महाभारत, इलियाड, रामायणकी मूल भावना, तात्पर्य और वातावरणमें प्रवेश करूं और उनकी युग-भावनाके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करूं और फिर उसके बाद मैं यह अनुभव कर सकता हूं कि उनके नायक अपने बाहरी कार्यके विवरणसे पृथक् स्वयं अपने-आपमें क्या थे।

जहांतक अवतारपनकी बात है, मैं रामको अवतार स्वीकार करता हूं क्योंकि वह योजनाके अंदर एक स्थानको पूरा करते हैं— और मुझे ऐसा लगता है कि उसे वह समुचित रूपमें ही पूरा करते हैं— और इस कारण स्वीकार करता हूं कि जब मैं रामायण पढ़ता हूं तब मैं एक महान् अंतःप्रेरणा अनुभव करता हूं जिसे मैं मान्यता देता हूं और जो इस कहानीको — यद्यपि यह महज परियोंकी कहानी प्रतीत होती है — एक ऐसी महान् संकटपूर्ण संक्रमणकालीन घटनाका रूपक बना देती है जो पार्थिव क्रमविकासके अंदर घटित हुई थी। इतना ही नहीं, वह प्रमुख चरित्रके व्यक्तित्व और कार्यको एक ऐसा अर्थ प्रदान करती है जो विशाल, आदर्शमय, विश्वव्यापी है और यदि ये कार्य किसी दूसरे व्यक्तिके द्वारा घटनाओंकी किसी दूसरी योजनाके अंदर किये गये होते तो इनको यह अर्थ नहीं मिला होता। अवतार असाधारण कार्योंको करनेके लिये बाध्य नहीं होता, बल्कि वह अपनी क्रियाओंको या अपने कार्यको अथवा वह जो कुछ है उसको— इनमेंसे किसी एकको या सबको — एक ऐसा अर्थ और एक ऐसी फलदायी शक्ति देनेको बाध्य होता है जो पृथिवी और उसकी जातियोंके इतिहासमें किये जानेवाले किसी प्रमुख कार्यके अंग हों।

जो हो, यदि कोई व्यक्ति जिसे मैं देखता हूं उसे न देखता हो और रामको उनके स्थानसे च्युत करना चाहता हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं — मेरे अंदर रामके लिये कोई विशेष पक्षपातका भाव नहीं है — बशर्ते कि किसीको उस स्थानपर बैठा दिया जाय जो रामके अभावके कारण उत्पन्न खाली स्थानको उपयुक्त ढंगसे भर

सके। वहां कोई व्यक्ति था, चाहे वाल्मीकिके राम हों या दूसरे राम या राम न हों तो अन्य कोई।

मैं यह भी नहीं समझता कि मैं रामके विषयमें की हुई तुम्हारी टिप्पणियोंको उचित स्वीकार करता हूं, भले ही उन्हें एक पृथक् आलोचनाके रूपमें क्यों न लिया जाय, पर आज उसके लिये मेरे पास समय नहीं है। वालिने जो आरंभमें अपने वधकी कार्यपद्धतिके विषयमें आपत्ति उठायी और पीछे वापस ले लिया, रामके संबंधियों-ने, अवश्य ही प्राचीन धर्मके दृष्टिकोणसे — किसी सार्वभौम नैतिक मानदंडके अनुसार नहीं, जो अस्तित्व ही नहीं रखता, क्योंकि मान-दंड देश या युगके अनुसार बदलता रहता है — सीताको त्याग देनेके विषयमें जो राय प्रकट की उन सबके बावजूद उन दोनों विषयोंमें मैं अपने विचारका समर्थन करता हूं।

* *

नहीं, निश्चय ही नहीं, कोई अवतार आध्यात्मिक नबी होनेके लिये बिलकुल बाध्य नहीं है — सच पूछा जाय तो वह कभी महज नबी नहीं होता बल्कि वह सिद्ध करनेवाला, संस्थापक होता है — केवल बाहरी चीजोंका नहीं, यद्यपि वह बाहरमें भी कुछ संसिद्ध करता है, बल्कि, जैसा कि मैंने कहा है, कुछ ऐसी मौलिक और महत्त्वपूर्ण वस्तुका संस्थापक होता है जो पार्थिव क्रमविकासके लिये आवश्यक होती है — उस पार्थिव विकासके लिये जो क्रमशः एक-एक स्तर पार करता हुआ भगवान्‌की ओर जानेवाला शरीरधारी आत्माका क्रम-विकास है। उस विकासके आध्यात्मिक स्तरको स्थापित करना रामका कार्य बिलकुल नहीं था — अतएव उसके साथ उन्होंने बिल-कुल ही अपना कोई सरोकार नहीं रखा। उनका कार्य था रावण-को मार डालना और राम-राज्य स्थापित करना—दूसरे शब्दोंमें, भविष्य-के लिये ऐसे सात्त्विक सभ्य मनुष्यके योग्य एक व्यवस्थाकी संभाव-

नाको निश्चित कर देना जो अपने जीवनको वुद्धि, सूक्ष्मतर भावों, नैतिकता अथवा कम-से-कम नैतिक आदर्शोंके द्वारा, जैसे, सत्य, आज्ञाकारिता, सहयोग और सामंजस्य, पारिवारिक और सार्वजनिक सुव्यवस्थाका बोध आदिके द्वारा, परिचालित करता है – इसे एक एक ऐसे जगत्में स्थापित करना जो अभी भी विद्रोही शक्तियोंके अधिकारमें है, जहां पशु-मन और प्राणिक अहंकारकी शक्तियां अपनी निजी संतुष्टिको ही जीवनका विधान मानती हैं, दूसरे शब्दोंमें, जहां वानर और राक्षस राज्य करते हैं। यही अर्थ है राम और उनके जीवन-कार्यका तथा उन्होंने यह कार्य जैसे पूरा किया या नहीं किया इसके अनुसार विचार करना होगा कि वह अवतार थे या नहीं। उनका कार्य बालि जैसे दुर्धर्ष नृशंस पशुके साथ शूरवीर क्षत्रियका सुखांत नाटक खेलना नहीं था, बल्कि उनका कार्य था उसे मार डालना और विश्वव्यापी पशुभावको अपने वशमें करना। उनका कार्य निश्चय ही कोई पूर्ण व्यक्ति होना नहीं था बल्कि महान् आदर्श रूप सात्त्विक मनुष्य होना था — सच्चा पति और प्रेमी, प्यारा और आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही और यथार्थ भाई, पिता और मित्र होना था — वह सब प्रकारके लोगोंके मित्र हैं, नीच गुहकके मित्र, पशुओंके नेता सुग्रीव, हनुमानके मित्र, गिद्ध जटायुके मित्र, यहांतक कि राक्षस विभीषणके भी मित्र हैं। यह सब वह बहुत उज्ज्वल और आकर्षक रूपमें थे पर सबसे अधिक सहज-स्वाभाविक और प्रामाणिक रूपमें थे, हरिश्चन्द्र या शिविकी तरह किसी एक स्वरपर उनका अत्यधिक जोर नहीं था बल्कि उनमें एक प्रकारकी सुसमंजस परिपूर्णता थी। परंतु सबसे अधिक उनका कार्य था उन सब चीजोंको स्थापित करना और उनका आदर्श रखना जिनपर सामाजिक आदर्श और उसका स्थायित्व निर्भर करता है, जैसे, सत्य और न्यायपरता, धर्मबोध, जनभावना और सुव्यवस्थाका बोध। अपनी पितृभक्ति और अपने पिताके प्रति आज्ञाकारिताकी अपेक्षा बहुत अधिक — यद्यपि उसके लिये भी — उन्होंने प्रथम सत्य और न्यायके लिये अपने व्यक्तिगत अधिकारोंका त्याग

किया जो उन्हें राजा और प्रजाद्वारा उत्तराधिकारी चुने जानेके कारण मिला था और अपने जीवनके सर्वोत्तम चौदह वर्षोंका बलिदान कर देशसे बाहर वनवासमें बिताया। अपनी लोक-भावना और सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये (प्राचीन भारतीयों, यूनानियों और रोमनोंकी दृष्टिमें यह एक महान् और सर्वोच्च नागरिक गुण माना जाता था, क्योंकि उस युगमें मानव-विकासधाराकी सबसे बड़ी आवश्यकता व्यक्तिका पृथक् विकास और उसकी संतुष्टि नहीं, वरन् सुव्यवस्थित समाजकी सुरक्षा थी) उन्होंने अपने निजी सुख और पारिवारिक जीवन तथा सीताके सुखका बलिदान कर दिया। इस विषयमें समस्त प्राचीन जातियोंके नैतिक बोधके साथ वह एकमत थे, यद्यपि आधुनिक मनुष्यकी बादकी औपन्यासिक व्यष्टिवादी भावुकताप्रधान नैतिकतासे उनका विरोध था, क्योंकि आधुनिक मनुष्य उस कम कठोर नैतिकताको ठीक इसी कारण ग्रहण कर सकता है कि प्राचीन लोगोंने सामाजिक सुव्यवस्थाकी भावनासे संसारको सुरक्षित करनेके लिये व्यक्तिका बलिदान कर दिया। अंतमें, रामका कार्य यह था कि वह रावणके साम्राज्य, राक्षसीय आतंकका नाश करके सात्त्विक मानवके आदर्शके लिये संसारको सुरक्षित बना दें। यह सब उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कर्ममें विद्यमान एक ऐसी दिव्य प्रेरणाके साथ किया कि उनके स्वरूपकी छाप भारतीय संस्कृतिके मनपर बीस लाख वर्षोंसे अधिक कालसे पड़ी हुई है और जिस चीजका उन्होंने प्रतिनिधित्व किया वह सभी देशोंके मनुष्योंकी बुद्धि और आदर्शवादी मनपर छायी हुई है, तथा मानवीय प्राणके निरंतर विद्रोह करते रहनेपर भी वह शायद तबतक वैसी ही बनी रहेगी जबतक कोई महत्तर आदर्श नहीं खड़ा हो जाता। और इन सब बातोंके बावजूद भी तुम यह कहते हो कि वह अवतार नहीं थे? यदि तुम चाहो तो कहो — पर, कम-से-कम, वह किन्हीं अत्यंत महान् विभूतियोंके बीच अपना स्थान रखते हैं। अब तुम उन्हें पदच्युत कर सकते हो — क्योंकि अब मनुष्य सात्त्विक आदर्शसे संतुष्ट नहीं है और उससे बड़ी कोई चीज खोजता है — परंतु

उनका कार्य और अर्थ पृथ्वीकी विकसनशील जातिके भूतकालपर अंकित रहेंगे। जब मैंने यह कहा था कि उनकी उपस्थितिके अभावमें एक व्यवधान बना रहेगा तब मेरा मतलब यह नहीं था कि देवदूतों और ज्ञानियोंके बीच व्यवधान बना रहेगा बल्कि अवतार-कार्यकी योजनाके बीच व्यवधान रह जायेगा — उस योजनाके अंदर कोई व्यक्ति ऐसा था जो सात्त्विक मानवका अवतार था जैसे कि कृष्ण अधिमानसिक अतिमानवके अवतार थे — मैं रामके सिवा और किसीको नहीं देख पाता जो उस स्थानकी पूर्त्ति कर सके। आध्यात्मिक गुरु और नबी (जैसे, मनीषी, वैज्ञानिक, कलाकार, कवि आदि भी) — ये सब अधिक-से-अधिक विभूति हैं पर अवतार नहीं हैं। क्योंकि इस रीतिसे तो सभी धर्म-संस्थापक अवतार हो जायेंगे — मोरमोनों (Mormons) के जोसेफ स्मिथ (मैं समझता हूं उनका यही नाम था), असीसीके संत फ्रांसिस, कालविन, लोमोला तथा ईसा, चैतन्य या रामकृष्णके साथ-साथ और भी बहुत-से लोग अवतार हो जायेंगे।

विश्वास, चमत्कार, विजय गोस्वामीके विषयमें दूसरे अवसरपर लिखूंगा। रामके विषयमें मैं इतना-सा और कहना चाहता था — जो अभी भी केवल एक संकेत है और अवतार-तत्त्वके सामान्य सिद्धांतके विषयमें जो बात मैं लिखने जा रहा हूं वह यह नहीं है।

और मैं इतना और जोड़ दूं कि यह रामका पूर्ण या चरम पक्ष-समर्थन भी नहीं है। उसके लिये तो मुझे यह लिखना होगा कि रामायणकी कहानीका क्या अर्थ है, यह विवेचन करना होगा कि वाल्मीकिने अपने प्रमुख चरित्रोंका चित्रण कैसे किया है (उनमेंसे कोई भी सामान्य उदाहरण नहीं है बल्कि वे सब महान् नर-नारी हैं जिनमें मानव-स्वभावके दोष-गुण हैं जैसे कि सभी मनुष्योंमें, यहांतक कि सबसे महान् लोगोंमें भी होते हैं), और फिर यह दिखाना होगा कि राम नामक सम्मुख-भागीय और यंत्रस्वरूप व्यक्तित्वके पीछे रहकर, जो कार्य सिद्ध करना था उसके आवश्यक पगके रूपमें, रामके

जीवनकी प्रत्येक घटनाको भगवान्‌ने कैसे कार्यान्वित किया है। रामके रोनेकी जो बात है उसका उत्तर मैंने अपने दूसरे अधूरे पत्रमें दे दिया था। तुम शुष्कतर और कठोरतर 'नारडिक'[1] आदर्शको 'दक्षिणी स्वभाव'[1] पर लाद रहे हो जो हृद्‌गत भावोंको दबाना नहीं बल्कि प्रकट करना एक गुण मानता है। जरा ऐचिलीज (Achilles), यूलीसेज (Ulysses) और अन्य पारसी और भारतीय महान् वीरोंके रुदन और विलापोंको देखो — उन पारसी और भारतीय वीरोंको देखो जो विशेषकर प्रेमी थे।

*　　　　*

भला राममें 'काम' और 'प्रेम' क्यों नहीं होना चाहिये ? प्राचीन भारतके लोग यह मानते थे कि पति-पत्नीके बीच ये दोनों एक साथ रहते हैं। सीताके विरहमें रामका जो विलाप है वह वाल्मीकिकी कवि-सुलभ भावनाका फल है, यह भावना कालिदासकी भी थी और उन सुदूर प्राचीन युगोंके अन्य लोगोंमें भी थी कि एक पूर्ण प्रेमीको ऐसी विपत्तिके समय कैसे व्यवहार करना चाहिये। आया वास्तविक रामने यह सब करनेका बखेड़ा मोल लिया था या नहीं यह एक दूसरा ही विषय है।

और अचेतन अवतारकी बात, सो क्यों नहीं हो सकता ? चैतन्यको वैष्णव लोग अवतार मानते हैं, पर वह केवल तभी अपने पीछे विद्यमान भगवत्ताके विषयमें सचेतन होते थे जब वह भगवत्ता सामने आती और विरल अवसरोंपर उन्हें अधिकृत कर लेती थी। ईसाने कहा था : "मैं और मेरे पिता एक हैं," पर फिर भी उन्होंने बराबर इसी तरह बात की और आचरण किया मानों दोनोंमें भेद हो। रामकृष्णका प्रारंभिक काल भगवान्‌की खोजका था, पहलेसे ही वह अपने

---

[1]ये शब्द इंगलैंडके उत्तरी और दक्षिणी मनुष्योंके स्वभावकी ओर संकेत करते हैं। —अनु.

तादात्म्यके विषयमें सज्ञान नहीं थे। ये लोग प्रसिद्ध धार्मिक अवतार हैं और इन्हें राम-जैसे एक कर्मशील व्यक्तिसे कहीं अधिक सचेतन होना चाहिये था। और यह मान भी लें कि अवतारमें पूरी और स्थायी चेतना होती है तो भी भला किन्हीं विरल अवसरोंपर किसी अर्जुनके सामने या कुछ थोड़ेसे भक्तों या शिष्योंके सामने घोषणा करनेके अतिरिक्त उसे अपने विषयमें क्यों घोषणा करनी चाहिये? यह दूसरोंका काम है कि वे खोज निकालें कि वह क्या है; यद्यपि दूसरोंके उसे अवतार कहनेपर वह उसे अस्वीकार नहीं करता, वह बराबर नहीं कहा करता और संभवतः कभी नहीं कह सकता अथवा केवल गीताके जैसे क्षणोंमें ही कहता है, "मैं 'वह' हूं।"

रामके ऊपर की गयी तुम्हारी नयी टिप्पणियोंका पूरा-पूरा उत्तर देनेके लिये आज रातको मेरे पास समय नहीं है। तुम्हारे अंदर केवल इस कारण भ्रांति उत्पन्न हुई है कि तुम अवतारकी नैतिक और आध्यात्मिक परिपूर्णता नापनेके आधुनिक मानदंडसे (सीली और बंकिमद्वारा निश्चित), आधुनिक गजसे चिपके हुए हो — जब कि मैं एकदम दूसरे ही दृष्टिकोणसे आरंभ करता हूं और दृढ़ताके साथ इन निर्धारित मानवीय पैमानोंको अस्वीकार करता हूं। बुद्धके सिवा पुराने अवतार न तो पूर्णताके नमूने हैं न आध्यात्मिक गुरु, यद्यपि गीता, श्रीकृष्ण कहते हैं, एक असाधारण चेतनाके क्षणमें कही गयी थी जिसे उन्होंने बादमें तुरत खो दिया था। वे, यदि मैं ऐसा कह सकूं तो, प्रतिनिधिरूप वैश्व पुरुष थे जो पृथ्वीकी मनुष्यजातिके क्रम-विकासमें कुछ विशिष्ट चीजें स्थापित करनेके लिये भागवत हस्त-क्षेपके यंत्र बनकर आये थे। मैं इस मतपर अटल हूं और इस विवादमें चाहे किसी भी दूसरे मापदंडके सामने झुकना अस्वीकार करता हूं।

मैंने यह नहीं स्वीकार किया था कि राम एक अंध (अचेतन) अवतार थे, बल्कि मैंने तुम्हारे सामने दो विकल्प रखे थे जिनमेंसे अंतिम विकल्प मेरा अपना सच्चा मत था। उस मतका आधार यह

था कि रामायण पढ़नेसे मेरे ऊपर यह छाप पड़ी थी कि राम अच्छी तरह जानते थे पर उस विषयमें कुछ कहना उन्होंने अस्वीकार किया था — उनका कार्य अपने अंदर विद्यमान भगवान्‌को दिखाना नहीं था बल्कि मनोमय, नैतिक और भावप्रधान मनुष्यको (उसे पैदा करना नहीं, क्योंकि वह पहलेसे ही वहां था) पाशविक और राक्षसी शक्तियोंके विरुद्ध पृथ्वीपर स्थापित करना था। चैतन्यके संबंधसे (जो अधिकांश समय अपनी बाहरी चेतनाके लिये सर्वप्रथम एक पंडित और फिर एक भक्त थे, पर केवल कभी-कभी ही स्वयं भगवान् थे) मेरा तर्क पूर्ण रूपसे युक्तिसंगत और तर्कसंगत है, यदि तुम मेरी विचारधाराका अनुसरण करो और यह माननेका हठ न करो कि अवतारको एक उच्च, सुनिश्चित रूपसे आध्यात्मिक चेतना प्राप्त होती है। मेरा तात्पर्य क्या है इसे मैं अपने दूसरे पत्रमें बतलाऊंगा।

सात्त्विक मनुष्यसे मेरा मतलब एक नैतिक या सर्वदा आत्मसंयम रखनेवाला मनुष्य नहीं है, बल्कि मेरा मतलब है, मुख्यतया मानसिक मनुष्य (प्राणिक या महज भौतिक मनुष्यके विपरीत), जिसमें राजसिक भावावेग और प्राणावेग तो हों पर जो प्रधानतया अपने मन और उसकी इच्छा और भावनाओंके अनुसार जीवन विताता हो। मेरा ख्याल है कि विशुद्ध सात्त्विक मनुष्य नामकी कोई वस्तु नहीं है — क्योंकि तीनों गुण सदा ही अस्थिर संतुलनकी अवस्थामें एक साथ बने रहते हैं — पर प्रधानतया सात्त्विक मनुष्य होता है जिसका वर्णन मैंने किया है। वाल्मीकिके वर्णनसे रामके विषयमें मेरी धारणा ऐसी ही है — यह तुम्हारी धारणासे एकदम भिन्न है। मुझे खेद है, उनके विषयमें जो तुम्हारा चित्रण है वह बिलकुल फोकसके बाहर है (अर्थात् चित्रण ठीक नहीं है बल्कि विकृत हो गया है) — तुम उनके चरित्रकी मुख्य बातोंको पोंछ डालते हो, उन सब उज्ज्वल प्रसंगोंको तुच्छ बना देते और रद्द कर देते हो जिन्हें वाल्मीकिने इतना अधिक महत्त्व और प्राधान्य दिया था और कुछ ब्योरेकी बातोंको तथा छायाके कुछ अंशोंको बार-बार दुहराते और उन्हींको रामके व्यक्ति-

त्वका सबसे बड़ा भाग बना डालते हो। किसीकी ख्याति नष्ट करनेवाले ऐसा ही करते हैं — पर ख्याति नष्ट करनेके लिये जो चित्रण किया जाता है वह उस व्यक्तिका सच्चा स्वरूप नहीं होता।

यहां बीचमें यह भी कह दूं कि सात्त्विक मनुष्यमें प्रबल आवेश और प्रबल क्रोध हो सकता है — और जब वह अपने क्रोधको भभकने देता है तब सामान्यतया दुष्ट व्यक्ति महज काफूर हो जाता है। ईसाके क्रोधके उबालको देखो, चैतन्यके रोषको लक्ष्य करो — और इस विषयपर अनुभव और मनोविज्ञानके सर्वसामान्य प्रमाणको देखो।

रामके स्वभावकी विशेषता, जिसे तुम अविकसित मनुष्यकी विशेषता कहते हो, जैसे, जो इच्छा या विचार उनके मनमें आता उसीके अनुसार वह निश्चित और सहज भावसे कार्य करते, वह तो विश्व-भावापन्न पुरुषकी और बहुतसे विभूतियोंकी, सीजर या नैपोलियन जैसे उच्च प्रकारके कर्मी मनुष्योंकी विशेषता है।

जब मैंने यह कहा था कि "एक अचेतन अवतार ही क्यों न मानें?" तब मैंने तुम्हारे (मेरे नहीं) इस कथनको लिया था कि राम अचेतन थे और भला कोई अचेतन अवतार कैसे हो सकता है? मेरा अपना मत यह है कि राम अंधे नहीं थे, अपने अवतार होनेके विषयमें अचेतन नहीं थे, केवल इस विषयमें मौन थे। परंतु मेरा कहना था कि यदि हम तुम्हारे कथनको ही ठीक मान लें तो भी आपत्ति अकाट्य नहीं है। मैंने इसके लिये चैतन्य तथा दूसरोंका उदाहरण दिया, क्योंकि उन प्रसंगोंमें तथ्योंको मुश्किलसे अस्वीकार किया जा सकता है। अपने जीवनके प्रथम भागमें चैतन्य महज निमाई पंडित थे और दूसरा और कुछ होनेकी चेतना उन्हें नहीं थी। फिर उनमें परिवर्तन आया और वह भक्त चैतन्य बन गये। कभी-कभी ये भक्त कृष्णकी उपस्थितिसे अभिभूत प्रतीत होते, अपने-आपको कृष्ण अनुभव करते, भगवान्‌की ज्योतिके साथ बातें करते, चलते-फिरते और दिखायी पड़ते — उनके आसपासका कोई भी व्यक्ति, जब वह इस महामहिम और रूपांतरित स्थितिमें होते तब, उससे भिन्न

रूपमें न तो उनके विषयमें सोचता और न उन्हें देखता। परंतु उस स्थितिसे वह फिर नीचे गिरकर भक्तकी साधारण चेतनामें आ जाते और, जैसा कि हमने उनके जीवन-चरितमें पढ़ा है, उस समय अपनेको और कुछ अधिक समझनेसे इनकार कर देते। ये सब बातें, मैं समझता हूं, सत्य बातें हैं। तब भला वे क्या सूचित करती हैं? क्या वह आरंभमें केवल निमाई पंडित ही थे? वह बिलकुल समझमें आने योग्य है कि वह वैसे थे और उनमें भगवान्‌का अवतरण उनमें परिवर्तन होने तथा उनका आध्यात्मिक रूपांतर होनेके बाद ही हुआ। परंतु बादमें भी जब वह अपनी सामान्य भक्त-चेतनामें होते तब वह क्या फिर अवतार नहीं रहते थे? क्या उनका अवतारत्व खंडित, विच्छिन्न था? क्या कृष्ण शामकी मुलाकातके लिये चैतन्यमें उतर आते और फिर जबतक दूसरी मुलाकातका समय नहीं हो जाता तबतक ऊपर चले जाते थे? इस घटनाके प्रसंगमें मुझे ऐसा विश्वास करना कठिन प्रतीत होता है। युक्तिसंगत व्याख्या यह है कि अव-तार-रूपी व्यापारमें पीछेकी ओर एक चेतना होती है, पहले आच्छन्न होती या शायद कभी-कभी आधी आच्छन्न होती है, जो एक देवताकी चेतना और एक सम्मुखीन चेतना होती है, मानवीय या देखनेमें मानवीय होती है अथवा कम-से-कम पार्थिवताका समस्त स्वरूप लिये होती है जो कि यंत्र-रूप व्यक्तित्व होती है। ऐसी हालतमें, यह संभव है कि गुप्त चेतना वहां बराबर ही विद्यमान थी, पर उनमें परिवर्तन आनेके समयतक प्रतीक्षा करती रही और वह कभी-कभी व्यक्त होती रही क्योंकि चैतन्यका मुख्य कार्य था मनुष्यके भावप्रधान प्राण-भागमें एक प्रकारकी आध्यात्मिक और चैत्य भक्ति और प्रेमको स्थापित करना, हमारे अंदरके प्राणको भगवान्‌की ओर मुड़नेके लिये उस ढंगसे तैयार करना — कम-से-कम, उस संभावनाको पार्थिव प्रकृति-में स्थापित कर देना। यह बात नहीं कि उससे पहले भावप्रधान भक्ति थी ही नहीं; परंतु इसकी परिपूर्णता, इसमें विद्यमान तीव्र सजीवता और प्राणका उल्लास उस रूपमें कभी अभिव्यक्त नहीं हुआ

जैसा कि चैतन्यमें प्रकट हुआ था। परंतु वह यदि सर्वदा कृष्ण-चेतनामें निवास करते तो यह बात उस कार्यके लिये कभी कारगर न हुई होती; वह भगवान् बने रहते जिन्हें लोग अपनी भक्ति समर्पित करते, पर वह दिव्य भावोन्मादपूर्ण भक्तिके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण न हुए होते। पर फिर भी आकस्मिक अभिव्यक्तिसे यह सूचित होता था कि वह कौन थे और उसके साथ-ही-साथ भगवान्के सर्वान्तर्यामी होनेके गुह्य विधानका प्रमाण भी मिलता था।

हां तो चैतन्यकी बात; यदि चैतन्य, — उनकी सम्मुखीन चेतना, उनका यंत्र-रूप व्यक्तित्व, — सब समय अवतार थे पर अपने उच्च-तम मुहूर्तोंके अतिरिक्त अन्य समय इस विषयमें अचेतन थे और यहां-तक कि उसे अस्वीकार करते थे तो इस बातको थोड़ा और आगे धकेल देनेपर ऐसे अवतारकी संभावना स्थापित हो जायगी जिसे तुम अचेतन अवतार कहते हो; अर्थात् एक ऐसा अवतार हो सकता है जिसमें कि प्रच्छन्न चेतना सामने न आये पर पीछेसे यंत्र-रूप व्यक्ति-त्वको सर्वदा चलाती रहे। सम्मुखीन चेतना अपनी सत्ताके आंतरिक भागोंमें यह समझ सकती है कि वह किसी दिव्य सत्ताका जो कि उसका सच्चा स्वरूप है, महज एक यंत्र है, पर ऊपरमें इस प्रकार सोचेगी, बोलेगी और आचरण करेगी मानो वह केवल एक मानवी सत्ता हो जो एक विशिष्ट शक्ति और महानताके साथ कार्य कर रही है। तब यह बात दूसरी है कि ऐसा कोई अवतार था या नहीं पर युक्तितर्कके अनुसार ऐसा होना संभव है।

***

अवतार और पूर्णता

प्रश्न यह था कि क्या भगवान्‌की अभिव्यक्ति अर्थात् अवतारसे किन्हीं पूर्णताओंकी मांग नहीं करनी चाहिये और यह बात मुझे सत्य-के साथ एकदम असंगत प्रतीत हुई थी। मैं दो तथ्य सामने रखता हूं और यदि हमें समस्त आध्यात्मिक ज्ञानको वस्तुओं-संबंधी आधुनिक यूरोपियन विचारोंके अनुकूल ही न उलट देना हो तो वे दोनों ही तथ्य मुझे अत्यावश्यक प्रतीत होते हैं। पहला है, भागवत अभिव्यक्तिके पीछे, जब वह मानसिक और मानवीय भावोंमें अभिव्यक्त होती है तब भी, मनसे कहीं महत्तर एक चेतना विद्यमान रहती है और वह इस अज्ञ मानवजातिकी तुच्छ मानसिक और नैतिक परंपरासे बंधी नहीं होती; इसलिये इन मानदंडोंको भगवान्‌के ऊपर लादनेका अर्थ है अयौक्तिक और असंभव कार्य करनेकी चेष्टा करना। दूसरे, बाह्य व्यक्तित्वके पीछे विद्यमान यह भागवत चेतना मूल रूपमें केवल दो चीजोंसे संबंध रखती है — ऊपर विद्यमान सत्यसे और यहां नीचे होनेवाली लीला तथा अवतार या अभिव्यक्तिके उद्देश्यसे, और उसके लिये जो कुछ आवश्यक होता है उसे ऐसे ढंगसे करती है जिसे उसकी मानव-चेतनासे महत्तर चेतना आवश्यक और अभीप्सित पथ समझती है। परंतु मैं नहीं समझता कि यह सब मुझे मानसिक प्रश्नोंका उत्तर देनेसे रोक सकता है। स्वयं मेरे अपने मतके अनुसार, यदि यह भागवत उद्देश्यकी दृष्टिसे आवश्यक है तो इसे करना ही होगा। मैं समझता हूं कि स्वयं श्रीरामकृष्णने हजारों प्रश्नोंका उत्तर दिया था। परंतु उत्तर वैसे ही होने चाहियें जैसे कि उन्होंने दिये थे और जैसे कि मैं देनेकी कोशिश करता हूं, — उत्तरोंको उच्चतर आध्यात्मिक अनुभवसे, ज्ञानके एक गभीरतर स्रोतसे आना चाहिये न कि तार्किक बुद्धिके श्रमसाध्य पांडित्यसे जो कि अपने अज्ञानको एक सांचेमें ढालनेका प्रयत्न करता है। उससे भी कहीं कम दिव्य सत्य-को बुद्धिके विचारालयमें उपस्थित किया जा सकता है जिसमें कि बुद्धि-रूपी अधिकारी जज उसे दोषी करार दे या निर्दोष छोड़ दे —

क्योंकि उस अधिकारीका यहां न तो कोई पर्याप्त अधिकार है और न उसे योग्यता है.........।

* *

Lust ('लस्ट' अर्थात् ऐन्द्रिय आसक्ति, भोगेच्छा) से तुम्हारा क्या मतलब है? अवतार विवाहित हो सकते हैं और उन्हें संतान भी हो सकते हैं और यह शरीर-संभोगके विना संभव नहीं है; वे मित्रता, शत्रुता, पारिवारिक संवंध आदि रख सकते हैं,—ये सव प्राणिक चीजें हैं। मेरी समझमें तुम्हारा ख्याल यह है कि अवतारको संत या योगी ही होना चाहिये।

***

अवतार और महानता

योगके द्वारा हम महानता प्राप्त करनेका प्रयत्न नहीं करते। यह श्रीकृष्णके शिष्योंका प्रश्न नहीं है बल्कि पार्थिव चेतनाका प्रश्न है। राम मनोमय पुरुष थे, उन्होंने जो कुछ कहा या किया उसमें अधिमानस-चेतनाका (प्रत्यक्ष) कोई स्पर्श नहीं है, पर उन्होंने जो कुछ किया वह अवतारकी महानताके साथ ही किया गया था। परंतु उसके वाद ऐसे मनुष्य हुए हैं जिन्होंने मनसे ऊपरके लोकोंके — उच्चतर मन, ज्योतिर्मय मन, संवोधिके संस्पर्शमें रहकर जीवन विताया था। यह पूछनेका कोई प्रश्न ही नहीं है कि क्या वे रामसे अधिक महान् थे; वे उनसे कम ही महान् होंगे पर वे चेतनाके एक नवीन स्तरसे जीवन वितानेमें समर्थ थे। और कृष्णके अधिमानस-चेतनाको खोल देनेसे निश्चय ही पृथ्वीपर अतिमानस-चेतना उतार लानेका प्रयास करना संभव हो गया है।

* *

अधिक और कम महान् होनेके विषयमें एक वात और। क्या मौरेटानिया जहाजका कप्तान जान हिगिन्स क्रिस्टोफर कोलंबससे अधिक महान् है, क्योंकि वह विना किसी तकलीफके कुछ दिनोंमें ही अमेरिका पहुंच सकता है? क्या विश्वविद्यालयका एक स्नातक प्लेटो-से अधिक महान् है, क्योंकि वह ऐसी समस्याओं और सिद्धांतोंके विषयमें तर्क-वितर्क कर सकता है जो कभी प्लेटोके ध्यानमें भी नहीं आये थे? नहीं, वस, मनुष्यजातिने महत्तर वैज्ञानिक शक्ति आयत्त की है जिसे कोई भी अच्छा पोतवाहक उपयोगमें ला सकता है अथवा एक विशालतर बौद्धिक ज्ञान अर्जन किया है जिसका उपयोग दार्शनिक शिक्षण पाया हुआ मनुष्य कर सकता है। तुम कहोगे कि महत्तर वैज्ञानिक शक्ति और विशालतर ज्ञान तो चेतनाका परिवर्त्तन नहीं हैं। वहुत अच्छा, पर हम यहां राम और रामकृष्णको ले सकते हैं। राम वरावर चिंतनशील बुद्धिसे वोले जो कि विकसित मनुष्य-की सर्वसामान्य संपत्ति है; पर रामकृष्ण सर्वदा ही एक तीक्ष्ण और ज्योतिर्मय आध्यात्मिक संवोधिसे वोले। क्या तुम कह सकते हो कि उन दोनोंमें कौन अधिक महान् था? समस्त भारतद्वारा स्वीकृत अवतार (राम) या वह संत और योगी (रामकृष्ण) जिसे उनके केवल शिष्य और उनके (शिष्योंके) अनुयायी थोड़ेसे अन्य लोग अव-तार मानते हैं?

* *

उन (वुद्ध) में रामकृष्णसे कहीं अधिक शक्तिशाली प्राण था, अत्यंत प्रवल संकल्पशक्ति और अदम्य चिंतनशील मन था। यदि उन्होंने साधारण जीवन यापन किया होता तो वह एक महान् संगठन-कर्त्ता, विजयी और स्रष्टा हुए होते। यदि कोई मनुष्य चेतनाके उच्चतर स्तरमें उठ जाता है तो आवश्यक रूपसे उसका मतलव यह नहीं होता कि वह एक महान कर्मी होगा या महान् स्रष्टा। कोई मनुष्य अंतःप्रेरणाके आध्यात्मिक स्तरोंमें ऊपर उठ सकता है जिसका

शेक्सपियरने कभी स्वप्न भी नहीं देखा था और फिर भी वह मनुष्य शेक्सपियरके जैसा महान् काव्य-स्रष्टा नहीं हो सकता। "महानता" उसी तरह आध्यात्मिक सिद्धिका उद्देश्य नहीं है जिस तरह कि संसारमें नाम-यश या सफलता पाना — भला ये सब चीजें आध्यात्मिक सिद्धिका मानदंड कैसे हो सकती हैं?



मानवीय कल्पना और अवतार

इस प्रश्नका उत्तर इस बातपर निर्भर करता है कि हम आध्यात्मिक अनुभूति तथा भौतिक स्तरसे भिन्न चेतनाके अन्य स्तरोंसे संबंधित सत्योंको क्या मूल्य प्रदान करते हैं एवं विश्व-चेतनाके साथ मनुष्यकी व्यक्तिगत और सामूहिक चेतनाका संबंध किस प्रकारका है। आध्यात्मिक और गुह्य सत्यके दृष्टिकोणसे मनुष्यकी चेतनामें जो कुछ आकार ग्रहण करता है वह, एक कठिन परिस्थितिमें, उन चीजोंका प्रतिबिंब और विशिष्ट प्रकारकी रचना होता है जो अपनी ज्योति, सामर्थ्य और सौंदर्यमें अथवा अपनी क्रिया-शक्ति और कार्यक्षेत्रमें बहुत अधिक महान् होती हैं तथा जिन्हें ये सब ज्योति, सामर्थ्य और सौंदर्य आदि उस वैश्व चेतनासे प्राप्त होते हैं जिसका कि मनुष्य एक सीमित और, अपने क्रमविकासकी वर्तमान स्थितिमें, अभी भी अज्ञानपूर्ण अंश है। जातिकी प्रतिभा तथा राष्ट्रकी चेतनाके विषयमें यह सब व्याख्या देना कि वे ही देवताओं और उनके आकारोंकी सृष्टि करती हैं — यह बहुत ही आंशिक, बहुत-कुछ छिछला और अपनेआपमें भ्रमोत्पादक सत्य है। मनुष्यका मन ही मूल स्रष्टा नहीं है, वह तो एक मध्यवर्त्ती शक्ति है; सृष्टि करनेके लिये उसे विश्वचेतनासे एक निर्माणकारी "अंतःप्रेरणा", कोई संकेत या वहांसे आनेवाली कोई चीज अवश्य प्राप्त होनी चाहिये और उसीकी सहायतासे जो कुछ संभव होता है उसे वह करता है। ईश्वर हैं, पर

ईश्वर-संबंधी मनुष्यकी कल्पनाएं उसके अपने मनमें प्राप्त कभी तो भगवान्के, कभी अन्य सत्ताओं और शक्तियोंके प्रतिबिंब होती हैं। मनुष्यके पास जो सूचनाएं आती हैं वे तबतक साधारणतया बहुत अपूर्ण और आंशिक होती हैं जबतक कि वे अभी भी मानसिक होती हैं, जबतक कि मनुष्य एक उच्चतर और सत्यतर, एक आध्यात्मिक या यौगिक ज्ञानतक नहीं पहुंच गया होता, और इन सूचनाओंका जो कुछ मतलब उसका मन निकालता है उसीके अनुरूप उसकी ईश्वर-संबंधी कल्पनाएं होती हैं। देवताओंका अस्तित्व पहलेसे ही है, उनकी सृष्टि मनुष्यने नहीं की है, यद्यपि ऐसा लगता है कि वह अपनी ही प्रतिमूर्त्तिके रूपमें उनके विषयमें भी कल्पना करता है;—मूलतः विश्वगत दिव्य सद्वस्तुसे वह देवताओंके विषयमें जो कुछ सत्य ग्रहण करता है उसे ही यथाशक्ति आकार प्रदान करता है। कोई कलाकार या भक्त देवताओंके दर्शन प्राप्त कर सकता है और वह दर्शन मनुष्यजातिकी चेतनामें स्थायी और व्यापक बन सकता है और इस अर्थमें यह सत्य हो सकता है कि मनुष्य देवताओंको अपने आकार प्रदान करता है; पर वह इन आकारोंका आविष्कार नहीं करता, वह जो कुछ देखता है बस उसे ही अभिलिखित करता है : जो आकार वह उन्हें देता है वे उसे प्राप्त होते हैं। मनुष्य श्रीकृष्णके शाश्वत सौंदर्यका जो कुछ अंश देख पाये उसीको उन्होंने उनके "परंपरागत" रूपमें मूर्त्तिमान् किया और जो कुछ उन्होंने देखा है वह सत्य भी हो सकता है और सुन्दर भी, वह उनके दिव्य विग्रहके कुछ अंशको प्रकट करता है; परंतु यह एकदम निश्चित है कि यदि उस शाश्वत सौंदर्यका कोई शाश्वत रूप है तो उस रूपका जो कुछ भी अंश देखनेमें अबतक मनुष्य समर्थ हुआ है उससे हजारोंगुना अधिक सुन्दर वह रूप है। भारतमाता पृथ्वीका एक टुकड़ा नहीं है; वह एक शक्ति है, एक देवी है, और सभी राष्ट्रोंकी एक ऐसी देवी है जो उनके पृथक् अस्तित्वको धारण करती और उन्हें अस्तित्वमें बनाये रखती है। ऐसी सत्ताएं उतनी ही सच्ची और कहीं

अधिक स्थायी रूपसे सच्ची हैं जितने सच्चे कि वे मनुष्य हैं जिनपर वे अपना प्रभाव डालती हैं; परंतु वे उच्चतर लोककी सत्ताएं हैं, वैश्व चेतना और सत्ताके अंग हैं। वे यहां पृथ्वीपर मानव-चेतनाकी रचना करनेका कार्य करती हैं और उसपर अपना प्रभाव डालती हैं। मनुष्य केवल अपनी चेतना — वैयक्तिक, राष्ट्रीय या जातीय चेतना — को कार्य करते हुए देखता है, वह यह नहीं देखता कि कौनसी चीज उसकी चेतनापर कार्य करती और उसको आकार प्रदान करती है, इसलिये उसके लिये यह सोचना स्वाभाविक है कि सब कुछकी रचना उसीने की है, और कोई भी ऐसी चीज उसके पीछे नहीं है जो विश्वव्यापी और उससे बड़ी हो। श्रीकृष्ण-चेतना एक सत्य वस्तु है, परंतु यदि कोई कृष्ण न हो तो फिर कोई कृष्ण-चेतना भी नहीं हो सकती; किसी मनमानी तात्त्विक सूक्ष्म कल्पनाके अतिरिक्त, किसी पुरुषके विना, जो कि सचेतन हो, कोई चेतना हो ही नहीं सकती। वास्तवमें पुरुष ही व्यक्तित्वको मूल्य प्रदान करता और उसे यथार्थ बनाता है, वह व्यक्तित्वके अंदर अपनेको अभिव्यक्त करता है पर वह उसके द्वारा निर्मित नहीं होता। श्रीकृष्ण एक सत्ता हैं, एक पुरुष हैं और दिव्य पुरुषके रूपमें ही हम उनसे मिलते, उनकी वाणी सुनते, उनसे बातें करते और उनके सान्निध्यको अनुभव करते हैं। कृष्णसे पृथक् किसी चीजके रूपमें कृष्ण-चेतनाकी चर्चा करना उस मनकी एक भूल है जो बराबर ही अविभेद्यको पृथक् करता है और जिसमें निराकारको ही, क्योंकि वह अमूर्त्त है, साकारसे अधिक महान्, अधिक सत्य और अधिक स्थायी माननेकी प्रवृत्ति है। ऐसे विभेद मनके लिये उसके अपने उद्देश्योंकी दृष्टिसे उपयोगी हो सकते हैं पर वे यथार्थ सत्य नहीं हैं। यथार्थ सत्यके अंदर सत्ता या पुरुष और उसका निर्व्यक्तित्व या सत्ताकी स्थिति दोनों एक सद्वस्तु हैं।

श्रीकृष्णकी ऐतिहासिकता कम आध्यात्मिक महत्त्व रखती है और वह आवश्यक नहीं है, पर फिर भी उसका पर्याप्त मूल्य है। मुझे

ऐसा नहीं लगता कि इस विषयमें कोई युक्तिसंगत संदेह उठ सकता है कि मनुष्यरूपी कृष्ण कोई पौराणिक या कोई काव्यात्मक आविष्कार नहीं हैं बल्कि वह वास्तवमें पृथ्वीपर विद्यमान थे तथा उन्होंने भारतके भूतकालमें एक पार्ट अदा किया था। दो तथ्य स्पष्ट रूपमें प्रकट होते हैं—एक तो यह कि वह एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक व्यक्ति माने जाते थे, वह एक ऐसे व्यक्ति थे जिनके आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करनेकी चर्चा एक उपनिषद्‌में अभिलिखित है, और दूसरे, परंपरागत रूपमें वह एक दिव्य पुरुष माने जाते थे, ऐसे पुरुष जो अपनी मृत्युके बाद एक देवताके रूपमें पूजे जाते हैं; ये बातें महाभारत और पुराणोंकी कहानीसे भिन्न हैं। यह माननेका कोई कारण नहीं कि भागवत धर्मके साथ, जो धर्म कि भारतीय आध्यात्मिकता-रूपी सरिताकी एक महत्त्वपूर्ण धारा है, उनके नामका संबंध, महज एक पौराणिक या काव्यात्मक आविष्कारके ऊपर स्थापित था। महाभारत एक काव्य है, इतिहास नहीं है, पर यह स्पष्ट रूपमें एक महान् ऐतिहासिक घटना, परंपरागत रूपमें स्मृतिमें सुरक्षित घटनाके ऊपर आधारित एक काव्य है। इससे संबंधित कुछ व्यक्ति, जैसे, धृतराष्ट्र, परीक्षित आदि निस्संदेह विद्यमान थे और एक नेता, योद्धा और राजनीतिज्ञके रूपमें कृष्णने जो पार्ट अदा किया था उसकी कहानीको एक ऐसी संभाव्य घटना तथा वाह्य रूपमें एक ऐसी परंपरापर आधारित स्वीकार कर सकते हैं जिसे ऐतिहासिक मूल्य दिया जा सकता है और जो एक पौराणिक या महज काव्यात्मक आविष्कारका वातावरण नहीं रखती। बस, सैद्धांतिक युक्तितर्ककी दृष्टिसे मानवरूपी कृष्णके ऐतिहासिक व्यक्ति होनेके विषयमें निश्चित रूपसे इतना ही कहा जा सकता है; पर मेरे विचारमें इससे बहुत अधिक बात इसमें है और मैंने सर्वदा ही भगवान्‌के अवतारको एक सत्य घटनाके रूपमें स्वीकार किया है; मैंने कृष्णकी ऐतिहासिकताको उसी तरह माना है जैसे कि ईसाकी ऐतिहासिकताको मानता हूं।

वृंदावनकी कहानी एक दूसरा ही विषय है; यह महाभारतकी

मुख्य कहानीमें नहीं आती और इसका मूल पुराणोंमें है। यह बात दावेके साथ कही जा सकती है कि यह बराबर ही माना जाता रहा है कि यह कहानी रूपकात्मक है। एक समय मैंने भी इस व्याख्याको स्वीकार किया था, पर पीछे मुझे इसका त्याग करना पड़ा; पुराणोंमें ऐसी कोई चीज नहीं जो किसी ऐसे आशयको प्रकट करती हो। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह कहानी किसी ऐसी चीजसे संबंधित है जो वास्तवमें घटी थी या कहीं घटती है। गोपियां पुराणोंके लिये वास्तविक व्यक्ति हैं, रूपक नहीं हैं। यह उनके लिये कम-से-कम एक गुह्य सत्य था, और गुह्य तथा रूपक एक ही चीज नहीं हैं। रूपक एक अर्थपूर्ण मानसिक रचनामात्र अथवा एक काल्पनिक आविष्कारमात्र हो सकता है, पर गुह्य एक सत्य वस्तु है जो वास्तवमें कहींपर, मानो भौतिक दृश्यके पीछे, है और पार्थिव जीवनके लिये एक सत्य रखती है तथा पार्थिव जीवनपर जो उसका प्रभाव पड़ता है वह यहां अपने-आपको व्यक्त भी कर सकता है। ऐसा लगता है कि गोपियोंकी लीलाके विषयमें यह कल्पना की गयी है कि यह लीला दिव्य गोकुलमें निरंतर चल रही है और यही पार्थिव वृंदावनमें प्रक्षिप्त हुई थी; इसका अनुभव सर्वदा ही प्राप्त किया जा सकता है तथा इसके अर्थको अंतरात्माके अंदर यथार्थ रूप प्रदान किया जा सकता है। यह बात मानी जा सकती है कि पुराणोंके लेखकोंने ऐसा मान लिया था कि वह लीला वास्तवमें अवतार कृष्णके जीवनमें पृथिवीपर प्रक्षिप्त हुई थी और भारतके धार्मिक लोगोंने भी ऐसा ही स्वीकार किया है।

इन प्रश्नों और इनके कारण उठनेवाली कल्पनाओंका आध्यात्मिक जीवनके साथ कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। वहां तो महत्त्वपूर्ण बात है कृष्णके साथ संपर्क और कृष्ण-चेतना, उनके सान्निध्य, उनके आध्यात्मिक संबंध और आत्माके अंदर उनके साथ मिलनकी ओर निरंतर विकसित होते रहना; और जबतक मनुष्य उसे नहीं प्राप्त कर लेता तबतक अभीप्सा बनाये रखना, भक्तिमें अग्रसर होते

रहना तथा पथपर जितना भी ज्ञान प्राप्त किया जा सके उसे प्राप्त करना। जिस व्यक्तिको ये सब चीजें प्राप्त हो चुकी हैं, जो कृष्णके सान्निध्यमें रह चुका है, उनकी वाणी सुन चुका है, उनको सखा या प्रेमी, मार्गदर्शक, गुरु, प्रभुके रूपमें जान-पहचान चुका है अथवा, उससे भी अधिक, अपनी समूची चेतना उनके संपर्कसे परिवर्त्तित कर चुका है, अथवा अपने भीतर उनकी उपस्थितिको उपलब्ध कर चुका है, उसके लिये ऐसे प्रश्नोंमें केवल एक बाहरी और ऊपरी रुचि ही होती है। उसी तरह जिस व्यक्तिको आंतरिक वृंदावन और गोपियोंकी लीलाके साथ संपर्क प्राप्त हो चुका है, जो आत्मसमर्पण कर चुका है, आनंद और सौंदर्यके सम्मोहनके वशीभूत हो चुका है अथवा केवल वंशीकी ध्वनिकी ओर ही मुड़ चुका है, उसके लिये बाकी चीजोंका विशेष कोई मूल्य नहीं। परंतु दूसरे दृष्टिकोणसे, यदि कोई अवतारकी ऐतिहासिक सत्यताको स्वीकार कर सके तो उसे यह महान् आध्यात्मिक लाभ होगा कि उसे इस विश्वासके कारण कहीं अधिक ठोस अनुभूति प्राप्त करनेके लिये आश्रय-स्थल मिल जायगा कि कम-से-कम एक बार भगवान्‌ने प्रकट रूपमें पृथ्वीका स्पर्श किया था, पूर्ण अभिव्यक्तिको संभव बनाया था, यह संभावना उत्पन्न की थी कि दिव्य पराप्रकृति इस क्रमविकसनशील पर अभी भी बहुत अपूर्ण पार्थिव प्रकृतिके अंदर अवतरित हो सके।

***

अवतार और उनका वर्णन

अब अवतार और रूपककी बातपर आवें। मुझे ऐसा लगता है कि आधुनिक लोग जो अवतारकी जीवन-चरितसंबंधी और ऐतिहासिक बातोंपर अर्थात् उनके जीवनके बाहरी तथ्योंपर, उनके बाहरी जीवनकी घटनाओंपर जोर देते हैं उसमें एक मौलिक भूल है। महत्त्वपूर्ण चीज है वह आध्यात्मिक सत्य, शक्ति और प्रभाव जो उनके

साथ आते हैं अथवा जिन्हें वह अपने कर्म और जीवनके द्वारा नीचे उतार लाते हैं। सबसे पहले, आध्यात्मिक मनुष्यके जीवनमें इस बातका कोई मूल्य नहीं कि उसने क्या किया अथवा अपने युगके मनुष्योंकी दृष्टिमें बाहरसे देखनेमें वह क्या था (यही चीजें हैं जो इतिहास और जीवन-चरित बताते हैं, ठीक है न?), बल्कि महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह भीतरमें क्या था और उसने क्या किया; केवल यही चीज है जो उसके बाहरी जीवनको कुछ महत्त्व प्रदान करती है। उसका आंतरिक जीवन ही उसके बाहरी जीवनको एक शक्ति देता है जिसे वह रख सकता है और आध्यात्मिक मनुष्यका आंतरिक जीवन एक विशाल और पूर्ण वस्तु होता है और, कम-से-कम महान् पुरुषोंमें, अर्थपूर्ण चीजोंसे इतना अधिक परिपूर्ण, इतने घने रूपमें भरा होता है कि कोई भी जीवनी-लेखक या इतिहास-लेखक उन सबको पकड़ पाने और कह पानेकी कभी भी आशा नहीं कर सकता। उसके बाहरी जीवनमें जो कुछ महत्त्वपूर्ण होता है वह इसलिये होता है कि वह उस चीजका प्रतीक होता है जो उसने स्वयं अपने भीतर उपलब्ध किया है और हम और भी आगे बढ़कर कह सकते हैं कि उसका आंतरिक जीवन भी उसके पीछे विद्यमान भगवत्तत्त्वकी क्रियाकी एक अभिव्यक्ति, एक जीवंत प्रतिमूर्त्तिके रूपमें ही महत्त्वपूर्ण होता है। यही कारण है कि हमें यह खोज करनेकी आवश्यकता नहीं है कि आया श्रीकृष्ण-संबंधी कहानियां पृथ्वीपर किये गये उनके कार्योंका, चाहे जितना भी शिथिल, वर्णन हैं अथवा जो कुछ श्रीकृष्ण थे और मनुष्योंके लिये हैं उसका, श्रीकृष्णके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्का प्रतीकात्मक चित्रण हैं। बुद्धका त्याग, मारके द्वारा उन्हें प्रलुब्ध किया जाना, बो-वृक्षके नीचे उनकी ज्ञान-प्राप्ति ऐसे ही प्रतीक हैं और उसी तरह ईसाका कुमारीसे जन्म, रेगिस्तानमें प्रलोभन और क्रासपर झुलाया जाना भी वैसे ही प्रतीक हैं; यदि वे सावधानीके साथ अभिलिखित ऐतिहासिक घटनाएं न भी हों तो भी उनका जो कुछ भी अर्थ है उसीके कारण वे सत्य हैं। ईसा और बुद्धके विषयमें जो कुछ

बाहरी तथ्य वर्णित हैं वे अन्य बहुतसे लोगोंके जीवनोंमें घटित तथ्योंसे बहुत अधिक नहीं हैं — फिर भला वह कौनसी चीज है जो बुद्ध या ईसाको आध्यात्मिक जगत्में बहुत ऊंचा स्थान प्रदान करती है? उन्हें जो यह स्थान मिला उसका कारण यह था कि उनके द्वारा कुछ ऐसी चीज अभिव्यक्त हुई जो किसी भी बाहरी घटना या किसी भी शिक्षासे बहुत अधिक थी। प्रामाणिक इतिहास उसका बहुत थोड़ासा अंश ही हमें देता है और फिर भी केवल वही चीज महत्त्व रखती है। अतएव मुझे लगता है कि 'अ' जो कुछ प्रतीकके बारेमें कहता है वह मूलतः ठीक ही है। केवल भौतिक मनके लिये ही मनुष्यके शब्दों, कर्मों और क्रियाओंका महत्त्व होता है; आंतरिक मनके लिये उसके अंदर होनेवाली आध्यात्मिक घटनाओंका ही मूल्य होता है। बुद्ध और ईसाकी शिक्षाएं भी इसलिये आध्यात्मिक रूपमें सत्य नहीं हैं कि वे महज मनसे दी हुई शिक्षाएं हैं बल्कि इसलिये सत्य हैं कि वे उनके अंदरकी उन आध्यात्मिक स्थितियों या घटनाओंकी अभिव्यक्तियां हैं जिन्हें उन लोगोंने अपने पार्थिव जीवनके द्वारा दूसरोंके लिये संभव (अथवा यहांतक कि प्रबल रूपमें कार्यक्षम) बनाया। फिर, स्पष्ट ही, सांप्रदायिक दीवारें एक भूल हैं, सत्यके साथ जुड़ी हुई विजातीय वस्तुएं हैं और वे मनद्वारा सत्यको सीमित करती हैं; किसी मानसिक उद्देश्यके लिये वे उपयोगी हो सकती हैं पर आध्यात्मिक उद्देश्यके लिये उनका कोई उपयोग नहीं। अवतार और गुरु यदि शाश्वत सत्यके प्रतिनिधि न हों तो फिर उनका कोई अर्थ नहीं; अपने पूजक या शिष्यके लिये वे जो कुछ हैं वह इसीलिये हैं कि वे शाश्वतके प्रतिनिधि हैं।

यह भी एक तथ्य है कि कोई भी आदमी तुम्हें कोई ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति नहीं दे सकता जो स्वयं तुम्हारे अपने सच्चे आत्माके किसी भागसे न आती हो; सर्वदा भगवान् ही अपने-आपको प्रकट करते हैं और भगवान् तुम्हारे भीतर ही हैं। अतएव जो प्रकट होता है वह तुम्हारे अपने हृदयमें ही अनुभूत होना चाहिये। यहां

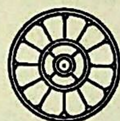
तुम्हारा प्रश्न महज यह संकेत करता है कि यह एक ऐसा सत्य है जिसकी गलत व्याख्या और गलत व्यवहार किया जा सकता है; पर ऐसा तो प्रत्येक आध्यात्मिक सत्यका किया जा सकता है यदि गलत तरीकेसे उसे पकड़ा जाय — और मानव-मनमें गलत ओरसे सत्यको पकड़ने और मिथ्यात्वपर पहुंचनेका चाव बहुत अधिक है। इन सब चीजोंका जो भी विवरण दिया जाता है वे आखिर मानसिक विवरण होते हैं और उनकी व्याख्या करनेवाला कोई भी मन चाहे जैसे उन-की व्याख्या कर सकता है। ऐसे प्रत्येक विवरणमें ही एक ग्रंथि होती है। उस ग्रंथिको वह सत्य नहीं निर्मित करता जो वहां अभि-व्यक्त किया जाता है, बल्कि मनकी व्याख्या ही उसका निर्माण करती है। ग्रंथि (जिसे तुम त्रुटि कहते हो) स्वयं उस विवरणमें नहीं होती, विवरण तो बिलकुल ठीक होता है; वह ग्रंथि होती है उस भ्रष्ट अर्थमें जिस अर्थमें अपने अहंकारसे मोहित अज्ञ या स्वाभि-मानी मन उसे ग्रहण करता है। बहुतसे लोगोंने "अपनी आत्मा" सिद्धांतको सामने रखा है परंतु वे यह देखनेका कष्ट नहीं उठाते कि आया वह सच्चा आत्मा है या नहीं, उन्होंने "अपनी आत्मा"-संबंधी अपने अज्ञानको — सच पूछा जाय तो अपने अहंको — गुरुके ज्ञानके विरुद्ध खड़ा कर दिया है अथवा अपने अहं या किसी ऐसी चीजको जिसने उनके अहंकी चापलूसी की और उसे पोषण दिया, उसे इष्टदेवता बना दिया। गुरु या अवतारकी पूजामें जो जटिलता है वह है सांप्रदायिक झुकाव जो प्रतिनिधि या अभिव्यक्तिपर तो बल देता है पर जो कुछ अभिव्यक्त हुआ है उसे दृष्टिसे ओझल कर देता है। दूसरी ओर बल देनेमें जो जटिलता है वह है प्रतिनिधि या अभिव्यक्तिकी आवश्यकताकी उपेक्षा करना या उसके मूल्यको कम कर देना तथा उसके बदले सबमें जो एक सच्चा आत्मा है उसे गुरु और प्रकाशके रूपमें न बैठाकर "अपनी आत्मा" को बैठाना। कितने ही लोगोंने ऐसा किया है और विस्तृत अहंकी खींच-तानमें वे रास्ता ही खो बैठे हैं। यह चीज इस मार्गका एक बहुत बड़ा खतरा है! जो

हो, 'अ' ने जो बातें कही हैं उनका सत्य इससे कम नहीं हो जाता,–बस, सत्यके बहुतसे पक्षोंको देखते समय हमें प्रत्येक वस्तुको 'सर्व'के उस सामंजस्यके अंदर उसके अपने स्थानमें रखना चाहिये जो कि हमारे लिये परात्पर प्रभुकी अभिव्यक्ति है।

*
**

विभिन्न अभिव्यक्ति

'अ' जो कुछ कहता है वह — उसकी केंद्रीय बात — बहुत सत्य है; जिन्हें आध्यात्मिकताकी कोई भी धारणा है उन सबका दृष्टि-कोण सर्वदा यही रहा है; यद्यपि कट्टर धार्मिक व्यक्ति इसे समझना कठिन अनुभव करते प्रतीत होते हैं। पर ईसा और कृष्ण यद्यपि एक ही हैं, फिर भी वे भिन्नतामें ही एक हैं — यही वास्तवमें केवल एक अभिव्यक्तिके बदले जैसा कि ये पादरी लोग इसे होना चाहेंगे, इतनी अधिक अभिव्यक्तियोंका उपयोग है। पर क्या यह सच है कि चूंकि ऐतिहासिक ईसाको बहुत अधिक ईसाई-धर्मकी आधारशिला बना दिया गया है इसीलिये वह धर्म ह्रासको प्राप्त हो रहा है? हो सकता है कि स्वयं इस धर्ममें ही — संभवतः स्वयं धर्ममात्रमें ही — कोई अपर्याप्त वस्तु हो; कारण सभी धर्म आजकल थोड़ा अपना रंग खो रहे हैं। आज अंतरात्मामें होनेवाले दिव्य ज्योतिके प्रति एक विशालतर उद्घाटनकी — एक ऐसे उद्घाटनकी आवश्यकता महसूस की जा रही है, जिसका विस्तारित होनेवाले मानव-मन और हृदय अनुसरण कर सकें।



श्रीमांके वचन

अवतार

आज अवतारके विषयमें कुछ कहनेके लिये मुझसे कहा गया है। श्रीअरविन्दने इस विषयपर लिखा है और जिस व्यक्तिने मुझसे यह प्रश्न किया है वह यदि श्रीअरविन्दकी इस विषयपर लिखी चीजें पढ़ना आरंभ करे तो बहुत अच्छा होगा। मैं उसकी बात कुछ नहीं कहूंगी।

परंतु मैं एक बहुत पुरानी परंपराकी बात तुम्हें बताऊंगी; वह परंपरा आध्यात्मिक और गुह्य विद्याकी दृष्टिसे दो प्रसिद्ध परंपराओं, वैदिक और काल्डियन परंपराओंसे भी अधिक पुरानी है; ऐसा मालूम होता है कि वह परंपरा इन दोनों प्रसिद्ध परंपराओंके मूलमें विद्यमान रही होगी। उस परंपरामें यह कहा गया है कि जब संसार विरोधी शक्तियों — भारतीय परंपराके अनुसार असुरों — की क्रियाके कारण दिव्य ज्योति और चेतनाके स्वाभाविक विधानके अनुसार विकसित होनेके बदले अंधकार, अचेतनता और अज्ञानमें, जिन्हें कि हम जानते हैं, डूब गया तब सृजनात्मिका शक्तिने परात्पर दिव्य मूलको पुकारा और प्रार्थना की कि एक ऐसा विशेष हस्तक्षेप किया जाय जो इस भ्रष्ट विश्वकी रक्षा करनेमें समर्थ हो। और इस प्रार्थनाके उत्तरमें उस परात्पर दिव्य मूलसे एक विशिष्ट दिव्य सत्ता उद्भूत हुई; वह सत्ता उस दिव्य प्रेम और चेतनासे गठित थी जो सीधे अत्यंत निश्चेतन जड़तत्त्वमें इसलिये प्रक्षिप्त किये गये थे कि वे मूल दिव्य चेतना तथा प्रेमके प्रति जड़तत्त्वको पुनः जगानेका कार्य आरंभ करें।

प्राचीन आख्यानोंमें इस दिव्य सत्ताके विषयमें यह कहा गया है कि वह एक अंधेरी गुफाके धरातलपर गभीर निद्रामें लेटा हुआ था और उसकी निद्रावस्थामें उससे प्रखर ज्योतिकी किरणें निकलकर धीरे-धीरे निश्चेतनाके अंदर फैलती थीं और निश्चेतनाके अंदर विद्यमान प्रत्येक तत्त्वके अंदर निवास करती थीं जिसमें कि वह पुनर्जागरणका अपना कार्य आरंभ कर सके।

यदि तुम सचेतन रूपसे इस निश्चेतनामें प्रवेश करो तो तुम अभी भी देख सकते हो कि वह अद्‌भुत सत्ता सदा गभीर निद्रामें सोयी हुई है और अपनी ज्योति निःसृत करने और फैलानेका कार्य कर रही है। वह अपना कार्य तबतक जारी रखेगी जबतक कि निश्चेतना फिर निश्चेतना नहीं रह जायगी, जबतक कि अंधकार संसारसे विलीन नहीं हो जायगा और समस्त सृष्टि अतिमानसिक चेतनामें जागृत नहीं हो जायगी।

और यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह अद्‌भुत सत्ता आश्चर्यजनक रूपमें उस पुरुषसे मिलती-जुलती है जिसे एक दिन मैंने अपने सूक्ष्म-दर्शनमें देखा था, जो वह सत्ता है जो दूसरे छोरपर, रूप और अरूपकी सीमापर विद्यमान है। परंतु यह सत्ता अपने स्वर्णिम रक्तवर्ण प्रभामंडलके साथ विराजमान थी जब कि दूसरी अपनी नींदमें डूबी हुई सत्ता श्वेत हीरक ज्योतिसे जाज्वल्यमान थी और उससे उपलमणिकी जैसी किरणें निकल रही थीं।

वास्तवमें यही वह सत्ता है जो सभी अवतारोंका आदि-मूल है। वही, ऐसा कह सकते हैं, कि, प्रथम विश्वव्यापी अवतार है जिसने क्रमशः अधिकाधिक सचेतन शरीरोंको धारण किया है और अंतमें कुछ सुपरिचित सत्ताओंकी श्रेणीके अंदर अपनेको अभिव्यक्त किया है जो संसारको तैयार करनेके कार्यको पूर्ण करनेके लिये सीधे परात्पर सत्तासे अवतरित हुईं जिसमें कि यह जगत्, निरंतर प्रगति करता हुआ, अतिमानसिक ज्योतिको संपूर्ण रूपमें ग्रहण और अभिव्यक्त करनेके लिये तैयार हो सके।

प्रत्येक देशमें, प्रत्येक परंपरामें यही तथ्य एक विशिष्ट ढंगसे, कुछ विभिन्न नियंत्रणों, विभिन्न ब्योरों, व्यक्तिगत विशेषताओंके साथ व्यक्त किया गया है, पर वास्तवमें सभी कहानियोंका मूल बस एक ही है, और वह है वह चीज जिसे हम मध्यवर्त्ती स्तरोंमेंसे गुजरे बिना परात्परका अंधतम जड़तत्त्वके अंदर सीधा और सचेतन हस्तक्षेप कह सकते हैं और इस हस्तक्षेपका उद्देश्य है इस जड़तत्त्वको इस प्रकार

जागृत कर देना कि वह भागवत शक्तियोंके लिये अभीप्सा करने लगे।

इन विभिन्न अवतारोंके बीचका व्यवधान अधिकाधिक कम होता हुआ प्रतीत होता है, मानो जड़तत्त्वके क्रमशः अधिक तैयार होते जानेके कारण, कार्य आगे सरकता है और उसकी गति तीव्रसे तीव्रतर होती जाती है, फिर अधिकाधिक सचेतन, अधिकाधिक फलप्रद और सुनिश्चित भी होती जाती है।

और यह कार्य तबतक बढ़ता और तेज होता जायगा जबतक कि समूचा जगत् परात्पर प्रभुका पूर्ण अवतार नहीं बन जाता।



संदेह निरर्थक है

तुम्हें जो यह संदेह है कि अवतार हो सकता है या नहीं, यह बात वास्तविक सत्यमें कोई व्यतिक्रम नहीं उत्पन्न कर सकती। भगवान् यदि चाहें कि वह मानुषी तनुके अंदर अपनेको प्रकट करें तो मैं नहीं समझती कि मनुष्यके विचार अपने समर्थन या असमर्थनके द्वारा किस प्रकार उनके संकल्पको जरा भी स्पर्श कर सकते हैं? यदि वह मानवीय शरीरमें जन्म ग्रहण करते हों तो मनुष्यकी अस्वीकृति उस घटनाको 'अघटन' नहीं बना सकती। इसमें भला विचलित होनेकी क्या बात है? केवल परिपूर्ण शांतिके अंदर, नीरवताके अंदर ही चेतना समस्त संस्कारों, समस्त प्रेय आसक्तियोंसे मुक्त होकर सत्यको देख सकती है।



विभिन्न अवतार और उनकी शिक्षाएं

भागवत शक्तिके जो रूप बुद्ध आदि जैसे विभिन्न पुरुषोंमें अवतरित होते हैं वे एक विशेष उद्देश्यसे, एक विशेष कार्यके लिये, विश्वके विकासक्रममें एक विशेष क्षणमें अवतरित होते हैं, पर मूलतः वे एक ही दिव्य सत्ताके विभिन्न रूप होते हैं; उनके बीच जो अंतर होता है वह बस कार्यके विशिष्ट रूपमें ही होता है, अन्यथा बराबर एक ही सत्य, एक ही शक्ति, एक ही शाश्वत जीवन इन सब रूपोंके अंदर अभिव्यक्त होता है और इन रूपोंको एक विशिष्ट क्षणमें, एक विशेष कारणसे और एक विशेष हेतुसे उत्पन्न करता है। इतिहासमें सदा ऐसा घटित होता रहता है और सर्वदा ही नये रूप एक नयी प्रगतिके लिये व्यवहृत होते रहते हैं। पुराने रूप बने रह सकते हैं, जैसे कि कोई प्रकंपन बना रहता है, पर उनके अस्तित्वका कारण, हम कह सकते हैं कि, ऐतिहासिक दृष्टिसे, महज अल्पकालिक होता है और एक रूपके स्थानमें दूसरा रूप आगेके एक नये पगके रूपमें आता है। मनुष्यकी भूल यह है कि जो कुछ पीछे होता है उससे सदा चिपका रहता है, वह चाहता है कि अतीत अनिश्चित कालतक बना रहे।

(अवतारोंकी) ये शिक्षाएं उस समय व्यवहृत होनी चाहियें जब वे उपयोगी होती हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिके विकासका भी इतिहास होता है। तुम ऐसी अवस्थाओंमेंसे गुजर सकते हो जब, किन्हीं ऐसी साधनाओंका, उदाहरणार्थ धम्मपदकी जैसी साधनाका, कुछ समयके लिये उपयोग हो, पर जब तुम उस अवस्थाके परे चले जाते हो तब तुम्हें दूसरी साधनाका अनुसरण करना चाहिये और यह देखना-समझना चाहिये कि जो साधना तुम्हारे लिये, ऐतिहासिक दृष्टिसे अर्थात् जीवन-विकासके किसी विशेष कालमें, उपयोगी थी वह अब वैसी नहीं है। निश्चय ही मैं उन लोगोंसे, जिन्होंने मनके विकास और उसपर प्राप्त प्रभुत्वकी किसी विशेष स्थितिको प्राप्त कर लिया है, यह नहीं कहूंगी कि "धम्मपद पढ़ो और उसपर ध्यान करो।"

यह तो समयका अपव्यय होगा। मैं यह आदेश उन लोगोंको दूंगी जिन्होंने उस स्थितिको अभी नहीं पार किया है जिसमें कि ऐसा करना आवश्यक है।

परंतु मनुष्य बराबर ही अपने कंधोंपर बेहद बोझ लादता रहता है। वह नहीं चाहता कि भूतकालकी कोई चीज गिर जाय और वह निरर्थक बोझके भारसे अधिकाधिक झुकता जाता है।

अपने पथके एक भागमें तुम्हें एक पथप्रदर्शक मिलता है, परंतु जब तुम उस भागको पार कर जाते हो तब उस पथ और पथ-प्रदर्शकको छोड़ दो और आगेकी ओर बढ़ चलो। वास्तवमें यह कार्य मनुष्य बहुत कठिनाईसे कर पाते हैं। जब वे कोई ऐसी चीज पा जाते हैं जो उन्हें सहायता करती है तो वे उसे जोरसे पकड़ लेते हैं, फिर और आगे नहीं बढ़ते। यही कारण है कि जिन लोगोंने ईसाई-धर्मकी सहायतासे प्रगति की है वे उसे छोड़ना नहीं चाहते और वे उसे अपने कंधोंपर ढोते हैं; जिन लोगोंने बौद्ध-धर्मके द्वारा उन्नति की है वे उसका त्याग नहीं करना चाहते, बल्कि उसे अपने कंधोंपर ढोते हैं और यह बात तुम्हारी चालको धीमी कर देती है और अनिश्चित कालतक तुम्हें रोक रखती है।

एक बार जब तुम एक स्थितिको पार कर जाते हो तो फिर उसे पीछे छोड़ दो, विलीन हो जाने दो! बस, आगे बढ़ जाओ।



अवतारकी आवश्यकता

एक दिन तुम भगवान्‌को देख भी सकती हो पर उनका कोई निश्चित आकार-विशेष नहीं है — सभी संभवनीय आकार उनके हैं और वह सभी आकारोंके परे भी हैं......।

यही कारण है कि वह पृथ्वीपर अपने अवतार भेजते हैं जिससे कि मनुष्य अधिक आसानीसे उनसे मिल सकें, उन्हें देख सकें और

उनके साथ संपर्क स्थापित कर सकें। परंतु वह हम सबके साथ सदा रहते हैं और हम सब उनके साथ सतत संबंध बनाये रह सकते हैं बशर्त्ते कि उसके लिये जो आवश्यक हो उसे हम करें और वह आवश्यक बात है बस उनसे प्रेम करना।

* *

अवतारकी मूल सार्थकता है मनुष्यके सामने यह जीवंत प्रमाण देना कि भगवान् पृथ्वीपर जीवन धारण कर सकते हैं।

***

भावी सिद्धिके उद्घोषक

जागतिक अभिव्यक्तिकी सनातन धारामें प्रत्येक अवतार किसी अधिक पूर्ण भावी सिद्धिका महज उद्घोषक, अग्रदूत होता है।

और फिर भी मनुष्योंमें बराबर ही यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे भविष्यके अवतारके विरुद्ध भूतकालके अवतारको खड़ा कर देते और उसे एक देवता बना देते हैं।

आज फिर श्रीअरविंद जगत्के सामने आगामी कलकी सिद्धिका उद्घोष करते हुए उपस्थित हुए हैं; और जैसे उनसे पहले आनेवाले अवतारोंकी शिक्षाका विरोध किया गया था वैसे ही अब उनकी शिक्षाका भी विरोध किया जा रहा है।

परंतु जिस सत्यको उन्होंने हमारे सामने उद्घाटित किया है उसे भविष्य सत्य सिद्ध करेगा और उनका कार्य अवश्य पूरा होगा।

* *

श्रीअरविंद हमें यह बतलानेके लिये आये थे कि "सत्यको पानेके लिये पृथ्वीका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं, अपनी आत्माको प्राप्त करनेके लिये हमें जीवनका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं, भगवान्के साथ संबंध स्थापित करनेके लिये न तो संसारका त्याग करनेकी आवश्यकता है न कुछ सीमित विश्वासोंको ही ग्रहण करनेकी आवश्यकता है। भगवान् सर्वत्र हैं, सभी चीजोंमें हैं और अगर वह छिपे हुए हैं तो इसका कारण बस यह है कि हम उन्हें ढूंढ़नेका कष्ट नहीं उठाते।"

***

"शाश्वत जन्म"

मुझसे पूछा गया है कि श्रीअरविन्दके जन्मको जो मैंने 'शाश्वत' कहा था उसका तात्पर्य क्या है।

स्वभावतः ही, यदि केवल शब्दोंको ही लिया जाय तो 'शाश्वत जन्म' का कोई विशेष अर्थ नहीं होगा। परंतु मैं अब तुमसे यह बतलाने जा रही हूं कि किस प्रकार इसके निम्नांकित कई अर्थ हो सकते हैं और वास्तवमें हैं भी : भौतिक अर्थ, मानसिक अर्थ, चैत्य अर्थ और आध्यात्मिक अर्थ।

(१) भौतिक रूपमें, इसका अर्थ यह है कि इस जन्मके परिणाम तबतक बने रहेंगे जबतक कि पृथ्वी बनी रहेगी। श्रीअरविन्दके जन्मके परिणाम, ऐसा कह सकते हैं कि, अनंत कालतक अनुभूत होते रहेंगे। इसीलिये मैंने कवित्वपूर्ण ढंगसे इसे 'शाश्वत' कहा है।

(२) मानसिक रूपमें, यह एक ऐसा जन्म है जिसकी स्मृति शाश्वत कालतक बनी रहेगी। युग-युगतक मनुष्य श्रीअरविन्दके जन्म तथा उसके परिणामोंको याद करते रहेंगे।

(३) चैत्य भावमें कहा जाय तो यह जन्म ऐसा है जो शाश्वत कालतक वार-वार, विश्वके इतिहासमें युग-युगमें, होता रहेगा। यह जन्म एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो पुनः-पुनः कुछ कालके अंतरसे घटित होती रहती है; कहनेका तात्पर्य, यह जन्म वार-वार नया रूप लेता है, वार-वार घटित होता है और प्रत्येक वार शायद कोई अधिक वड़ी चीज, कोई अधिक पूर्ण और अखंड चीज ले आता है, पर यह होता है पार्थिव शरीरमें होनेवाले अवतरण, प्राकटच, जन्मकी वस एक ही क्रिया।

(४) और अंतमें, विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे, हम कह सकते हैं कि यह पृथ्वीपर शाश्वत सत्ताका जन्म है, क्योंकि जव-जव अवतार भौतिक शरीर ग्रहण करते हैं तव-तव वह स्वयं शाश्वत प्रभु-का ही पृथ्वीपर जन्म होता है।

यह सब अर्थ इन दो शब्दोंमें, "शाश्वत जन्म" में निहित है।

जब भागवत चेतना और शक्ति मनुष्य
रूपको तथा कर्मकी मानव-प्रणालीको अ
ऊपर ले लेती है और इसपर वह अप
स्वत्व केवल शक्तिमत्ता और विपुलत
द्वारा अथवा अपनी कलाओं और व
रूपोंके द्वारा ही नहीं रखती, बल्कि अ
शाश्वत ज्ञानके साथ रखती है, जब
अजन्मा अपने-आपको जानते हुए मानव
प्राण-शरीरको धारण कर, मानव-जन
जामा पहनकर कर्म करते हैं तब वह
कालके अंदर भगवान्‌के प्रकट होनेकी
काष्ठा है, यही भगवान्‌का पूर्ण और चिन्मय
अवतरण है, इसीको अवतार कहते हैं।

—श्रीअरविंद

अदिति पुस्तक-माला — पुष्प ४

मूल्य रु. २.००